जैन तत्त्व चिन्तन

मुनिश्री नथमल

श्री तेरापथ-द्विशताब्दी-समारोह के अभिनन्दन मे

आमुख

यह ग्रन्थ आचार्य श्री तुलसी द्वारा विरचित 'जैन सिद्धान्त दोपिका' की प्रस्तावना का परिवर्धित रूप है। इसमें जैन तत्त्व सम्बन्धी कुछ एक विषयो पर सक्षिप्त चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

जैन तत्त्वों पर अभी बहुत कम लिखा गया है। आज की भाषा और भावों मे प्राचीन साहित्य को प्रस्तुत करने का एक ओर महत्त्वपूर्ण कार्य है, दूसरी ओर नया चिन्तन और नए साहित्य के निर्माण का महत्त्वपूर्ण कार्य है। आचार्य श्री तुलसी की प्रेरणा और निर्देशन मे ये दोनों प्रयत्न सफल होंगे—यह हमारी दृढ आस्था है।

यह ग्रन्थ प्राचीन साहित्य को आज की भाषा मे प्रस्तुत करने का एक प्रयास है। यह जैन दर्शन-ग्रन्थमाला का तीसरा पुष्प है।

मुनि दुलहराजजी ने इसकी शब्दानुक्रमणिका और पारिभाषिक शब्द-कोष लिख इसकी उपयोगिता बढाने मे योग दिया है।

आचार्य श्रीतुलसी
का
जन्म दिन,
कलकत्ता २०१६ कार्तिक शुक्ल २ } मुनि नथमल

प्रकाशकीय

जीवन एक शाश्वत स्रोत है, जिसका न आदि है, न अन्त। वे गहराई तक नही जाते, जो इसे एक सीमित परिधि मे बाध सामयिक तथ्य मान लेते हैं। जीवन के इस सार्वदिक महोदधि मे आत्म-साधना, अन्तर-वल और सतत अनुशीलन के सहारे गहरी डुवकियाँ ले मनीषियो ने जो इसका नवनीत निकाला, वह प्राणीमात्र को जीवन-यात्रा पर सफलता पूर्वक आगे बढ़ते रहने मे शक्ति-और ओज प्रदान करता है, यदि उसका यथावत् सेवन किया जाय। यही तो वह तत्त्व-ज्ञान है, जिसके कारण भारत का मस्तक विश्व मे सब से ऊँचा है।

जगत् के जीवनोन्मेषी वाङ्मय मे जैन तत्त्व-ज्ञान का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिन अर्थात् राग, द्वेष आदि शत्रुओ का पराभव करने वाले आत्मवशी महाविजेता, उन द्वारा सर्वविद्-दृष्टि से देखा गया और कहा गया तत्त्व जैन तत्त्व है। जो अहिंसा अनेकान्त और अपरिग्रह जैसे आदर्शो द्वारा वर्तमान युगीन विषम समस्याओ के समाधान का भी एक अप्रतिम हेतु बन सकता है। आवश्यकता है, उसके यथावत् स्वरूप से जगत् को अवगत कराने की।

जैन जगत् के महान् अधिनेता, वर्तमान युग के बहुश्रुत तत्त्व-द्रष्टा, अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्त्तक आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा जैन तत्त्व-ज्ञान पर लिखित प्रस्तुत ग्रन्थ उनके गम्भीर अनुशीलन, प्रखर पाण्डित्य और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का प्रतीक है। जैन संस्कृति और इतिहास के स्वर्णिम पर्व 'तेरापथ-द्विशताब्दी समारोह' के अभिनन्दन मे आदर्श साहित्य सघ की ओर से इसका प्रकाशन करते हमें अत्यन्त हर्ष है।

आशा है, पाठक इससे तत्त्व-ज्ञान-लाभ करेंगे।

पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता-१

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक

विषय-सूची

आस्तिक दर्शनों की भित्ति—आत्मवाद

"अनेक[1] व्यक्ति यह नहीं जानते कि मैं कहाँ से आया हूँ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं? मैं कौन हूँ? यहाँ से फिर कहाँ जाऊँगा?"

इस जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता है। धर्म-दर्शन की मूल-भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नहीं तो नहीं। यहीं से आत्म-तत्त्व आस्तिकों का आत्मवाद बन जाता है। वाद की स्थापना के लिए दर्शन और उसकी सचाई के लिए धर्म का विस्तार होता है।

"अज्ञानी[2] क्या करेगा, जबकि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नहीं होता" इसलिए "पहले[3] सत्य को जानो और बाद में उसे जीवन में उतारो।"

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक की तरह केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं चाहता, वह चाहता है मोक्ष। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—"जिससे[4] मैं अमृत नहीं बनती, उसे लेकर क्या करूँ। जो अमृतत्व का साधन हो, वही मुझे बताओ।" कमलावती इक्षुकार को सावधान करती है—"हे नरदेव।[5] धर्म के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु त्राण नहीं है।" मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधनभूत अध्यात्म-ज्ञान की याचना करती है और कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व बताती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा में प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद अध्यात्मवाद बन जाता है। यही स्वर उपनिषद् के ऋषियों की वाणी में से निकला—"आत्मा[6] ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है।" तत्त्व यही है कि दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष में। सत्य का ज्ञान उसका शरीर है और सत्य का आचरण उसकी आत्मा।

सत्य की परिभाषा

प्रश्न यह रहता है कि सत्य क्या है ? जैन-आगम कहते हैं—"वही[७] सत्य है, जो जिन (आप्त और वीतराग) ने कहा है।" वैदिक सिद्धान्त मे भी यही लिखा है—"आत्मा[८] जैसे गूढ तत्त्व का क्षीणदोष-यति—वीतराग ही साक्षात्कार करते हैं।" उनकी वाणी अध्यात्मवादी के लिए प्रमाण है। क्योंकि वीतराग अन्यथाभाषी नहीं होते। जैसे कहा है—"असत्य[९] बोलने के मूल कारण तीन हैं—राग, द्वेष और मोह। जो व्यक्ति क्षीणदोष है—दोषत्रयी से मुक्त हो चुका, वह फिर कभी असत्य नहीं बोलता।"

"वीतराग अन्यथाभाषी नहीं होते" —यह हमारे प्रतिपाद्य का दूसरा पहलू है। इससे पहले उन्हे पदार्थ-समूह का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान उसी को होता है, जो निरावरण हो। निरावरण यानी यथार्थ-द्रष्टा, वीतराग—वाक्य यानी यथार्थ-वक्तृत्व, ये दो प्रतिज्ञाएँ हमारी सत्यमूलक धारणा की समानान्तर रेखाएँ हैं। इन्हीं के आधार पर हमने आप्त के[१०] उपदेश को आगम-सिद्धान्त माना है। फलितार्थ यह हुआ कि यथार्थ-ज्ञाता एव यथार्थ-वक्ता से हमे जो कुछ मिला, वही सत्य है।

दार्शनिक परम्परा का इतिहास

स्वतन्त्र विचारको का खयाल है कि इस दार्शनिक परम्परा के आधार पर ही भारत मे अन्ध-विश्वास जन्मा। प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि है, तर्क है, अनुभव है, फिर वह क्यो ऐसा स्वीकार करे कि यह अमुक व्यक्ति या अमुक शास्त्र की वाणी है, इसलिए सत्य ही है। वह क्यो न अपनी ज्ञान-शक्ति का लाभ उठाए। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यो से कहा—"किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण न मानना, अन्यथा बुद्धि और अनुभव की प्रामाणिकता जाती रहेगी।" इस उलझन को पार करने के लिए हमे दर्शन-विकास के इतिहास पर विहगम दृष्टि डालनी होगी।

वैदिको का दर्शन-युग उपनिषद्-काल से शुरू होता है। आधुनिक अन्वेषको के मतानुसार लगभग चार हजार वर्ष पूर्व उपनिषदो का निर्माण होने लग गया था। लोकमान्य तिलक ने मैत्र्युपनिषद् का रचना-काल ईसा से पूर्व १८८० से १६८० के माना है। बौद्धो का दार्शनिक युग ईसा से पूर्व ५ वीं शताब्दी में शुरू होता है।

जैनों के उपलब्ध दर्शन का युग भी यही है, यदि हम भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा को इससे न जोड़े। यहाँ यह बता देना अनावश्यक न होगा कि हमने जिस दार्शनिक युग का उल्लेख किया है, उसका दर्शन की उत्पत्ति से सम्बन्ध है। वस्तुवृत्त्या वह निर्दिष्ट काल आगम-प्रणयनकाल है। किन्तु दर्शन की उत्पत्ति आगमो से हुई है, इस पर थोड़ा आगे चल कर कुछ विशद रूप मे बताया जायगा। इसलिए प्रस्तुत विषय मे उस युग को दार्शनिक युग की संज्ञा दी गई है। दार्शनिक ग्रन्थो की रचना तथा पुष्ट प्रामाणिक परम्पराओ के अनुसार तो वैदिक, जैन और बौद्ध प्रायः सभी का दर्शन-युग लगभग विक्रम की पहली शताब्दी या उससे एक शती पूर्व प्रारम्भ होता है। उससे पहले का युग आगम-युग ठहरता है। उसमे ऋषि उपदेश देते गये और वे उनके उपदेश 'आगम' बनते गये। अपने-अपने प्रवर्तक ऋषि को सत्य-द्रष्टा कहकर उनके अनुयायियो द्वारा उनका समर्थन किया जाता रहा। ऋषि अपनी स्वतन्त्र वाणी मे बोलते—"मैं" यो कहता हूँ'। दार्शनिक युग मे यह बदल गया। दार्शनिक बोलता है—'इसलिए यह यो है'। आगम-युग श्रद्धा-प्रधान था और दर्शन-युग परीक्षा-प्रधान। आगम-युग मे परीक्षा की और दर्शन-युग मे श्रद्धा की अत्यन्त उपेक्षा नही हुई। न हो भी सकती है। इसी बात की सूचना के लिए ही यहाँ श्रद्धा और परीक्षा के आगे प्रधान शब्द का प्रयोग किया गया है। आगम मे प्रमाण के लिए पर्याप्त स्थान सुरक्षित है। जहाँ हमे आज्ञा-रुचि[12] एवं सक्षेप-रुचि[13] का दर्शन होता है, वहाँ विस्तार रुचि[14] भी उपलब्ध होती है। इन रुचियो के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि दर्शन-युग या आगम-युग अमुक-अमुक समय नही किन्तु व्यक्तियो की योग्यता है। दार्शनिक युग अर्थात् विस्तार-रुचि की योग्यतावाला व्यक्ति, आगम-युग अर्थात् आज्ञा-रुचि या सक्षेप-रुचि वाला व्यक्ति। प्रकारान्तर से देखे तो दार्शनिक यानी विस्तार-रुचि, आगमिक यानी आज्ञा-रुचि। दर्शन के हेतु बतलाते हुए वैदिक ग्रन्थकारो ने लिखा है—"श्रौत[15] वाक्य सुनना, युक्ति द्वारा उनका मनन करना, मनन के बाद सतत-चिन्तन करना, ये सब दर्शन के हेतु हैं।" विस्तार-रुचि की व्याख्या मे जैन सूत्र कहते हैं—"द्रव्यो[16] के सब भाव, यानी विविध पहलू प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि प्रमाण एवं नैगम आदि नय—समीक्षक दृष्टियो से जो जानता है, वह विस्तार-रुचि है।" इसलिए यह व्याप्ति बन सकती है कि आगम मे दर्शन है और दर्शन मे आगम। तात्पर्य की दृष्टि से देखे तो अल्प-बुद्धि

व्यक्ति के लिए आज भी आगम-युग है और विशद बुद्धि व्यक्ति के लिए पहले भी दर्शन-युग था। किन्तु एकान्ततः यों मान लेना भी संगत नहीं होता। चाहे कितना ही अल्प-बुद्धि व्यक्ति हो, कुछ न कुछ तो उसमें परीक्षा का भाव होगा ही। दूसरी ओर विशद-बुद्धि व्यक्ति के लिए भी श्रद्धा आवश्यक होगी ही। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि आगम और प्रमाण, दूसरे शब्दो में श्रद्धा और युक्ति—इन दोनो के समन्वय से ही दृष्टि में पूर्णता आती है अन्यथा सत्य-दर्शन की दृष्टि अधूरी ही रहेगी।

विश्व मे दो प्रकार के पदार्थ हैं—"ऐन्द्रियिक[१७] और अतीन्द्रिय। ऐन्द्रियिक पदार्थों को जानने के लिए युक्ति और अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने के लिए आगम—ये दोनो मिल हमारी सत्योन्मुख दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं।" यहाँ हमे अतीन्द्रिय को अहेतुगम्य पदार्थ के अर्थ मे लेना होगा अन्यथा विषय की सगति नही होती क्योंकि युक्ति के द्वारा भी बहुत सारे अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं। सिर्फ अहेतुगम्य पदार्थ ही ऐसे हैं, जहाँ कि युक्ति कोई काम नहीं करती। हमारी दृष्टि के दो अगो का आधार भावो की द्विविधता है। ज्ञेयत्व की अपेक्षा पदार्थ दो भागो में विभक्त होते है—हेतुगम्य[१८] और अहेतुगम्य। जीव का अस्तित्व हेतुगम्य है। स्वसवेदन-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से उसकी सिद्धि होती है। रूप को देखकर रस का अनुमान, सघन बादलो को देखकर वर्षा का अनुमान होता है, यह हेतुगम्य है। पृथ्वीकायिक जीव श्वास लेते हैं, यह अहेतुगम्य हैं—आगमगम्य है। अभव्य जीव मोक्ष नहीं जाते किन्तु क्यो नहीं जाते, इसका युक्ति के द्वारा कोई कारण नहीं बताया जा सकता। सामान्य युक्ति मे भी कहा जाता है—'स्वभावे तार्किका भग्नाः।' "स्वभाव[१९] के सामने कोई प्रश्न नही होता। अग्नि जलती है, आकाश नहीं—यहाँ तर्क के लिए स्थान नहीं है।"

आगम और तर्क का जो पृथक्-पृथक् क्षेत्र बतलाया है, उसको मानकर चले बिना हमें सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य मे भी सम्पूर्ण[२०] दृष्टि के लिए उपदेश और तर्कपूर्ण मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता बतलाई है। जहाँ श्रद्धा या तर्क का अतिरजन होता है, वहा ऐकान्तिकता आ जाती है। उससे अभिनिवेश—आग्रह या मिथ्यात्व पनपता है। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि "जो[२१] हेतुवाद पक्ष मे हेतु का प्रयोग करता है, आगम के पक्ष मे आगमिक है, वही स्व-सिद्धान्त ... है। जो इससे विपरीत चलता है, वह सिद्धान्त का विराधक है।"

आगम तर्क की कसौटी पर

यदि कोई एक ही द्रष्टा, ऋषि या एक ही प्रकार के आगम होते तो आगमों को तर्क की कसौटी पर चढ़ने की घड़ी न आती। किन्तु अनेक मतवाद हैं, अनेक ऋषि। किसकी बात मानें किसकी नहीं, यह प्रश्न लोगों के सामने आया। धार्मिक मतवादों के इस पारस्परिक संघर्ष में दर्शन का विकास हुआ।

भगवान् महावीर के समय[22] में ही ३६३ मतवादों[23] का उल्लेख मिलता है। बाद में इनकी शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार होता गया। स्थिति ऐसी बनी कि आगम की साक्षी से अपने सिद्धान्तों की सचाई बनाये रखना कठिन हो गया। तब प्रायः सभी प्रमुख मतवादों ने अपने तत्त्वों को व्यवस्थित करने के लिए युक्ति का सहारा लिया। "विज्ञानमय[24] आत्मा का श्रद्धा ही सिर है" यह सूत्र "विद्वाणी[25] की प्रकृति बुद्धिपूर्वक है" इससे जुड़ गया। "जो द्विज[26] धर्म के मूल—श्रुति और स्मृति का तर्क-शास्त्र के सहारे अपमान करता है, वह नास्तिक और वेद-निन्दक है। साधुजनों को उसे समाज से निकाल देना चाहिए।" इसका स्थान गौण होता चला गया और "जो[27] तर्क से वेदार्थ का अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं" इसका स्थान प्रमुख हो चला। आगमों की सत्यता का भाग्य तर्क के हाथ में आ गया। चारों ओर 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' यह उक्ति गूजने लगी। वही[28] धर्म सत्य माना जाने लगा, जो कष, छेद और ताप सह सके। परीक्षा के सामने अमुक व्यक्ति या अमुक व्यक्ति की वाणी का आधार नहीं रहा, वहाँ व्यक्ति के आगे युक्ति की उपाधि लगानी पड़ी—'युक्तिमद्[29] वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।' भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध या महर्षि व्यास की वाणी है, इसलिए सत्य है या इसलिए मानो, यह बात गौण हो गई। हमारा सिद्धान्त युक्तियुक्त है, इसलिए सत्य है—इसका प्राधान्य[30] हो गया।

तर्क का दुरुपयोग

ज्यों-ज्यों धार्मिकों में मत-विस्तार की भावना बढ़ती गई, त्यों-त्यों तर्क का क्षेत्र व्यापक बनता चला गया। न्यायसूत्रकार ने वाद[31], जल्प और वितण्डा को तत्त्व बताया। 'वाद'[32] को तो प्रायः सभी दर्शनों में स्थान मिला। जय-पराजय की व्यवस्था भी मान्य हुई, भले ही उसके उद्देश्य में कुछ अन्तर रहा हो। आचार्य और

शिष्य के बीच होने वाली तत्त्व-चर्चा के क्षेत्र मे वाद फिर भी विशुद्ध रहा । किन्तु जहाँ दो विरोधी मतानुयायियो मे चर्चा होती, वहाँ वाद अधर्मवाद से भी अधिक विकृत बन जाता । मण्डन मिश्र और शङ्कराचार्य के बीच[33] हुए वाद का वर्णन इसका ज्वलन्त प्रमाण है । आचार्य सिद्धसेन ने महान् तार्किक होते हुए भी शुष्क वाद के विषय मे विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "श्रेयस्[34] और वाद की दिशाएं भिन्न हैं ।"

भारत मे पारस्परिक विरोध बढाने मे शुष्क तर्कवाद का प्रमुख हाथ है ।

"तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्"[35]

युधिष्ठिर के ये उद्गार तर्क की अस्थिरता और मतवादो की बहुलता से उत्पन्न हुई जटिलता के सूचक हैं । मध्यस्थ वृत्ति वाले आचार्य जहाँ तर्क की उपयोगिता मानते थे, वहाँ शुष्क[36] तर्कवाद के विरोधी भी थे ।

प्रस्तुत विषय का उपसहार करने के पूर्व हमे उन पर दृष्टि डालनी होगी, जो सत्य के दो रूप हमे इस विवरण से मिलते हैं—(१) आगम को प्रमाण मानने वालो के मतानुसार जो सर्वज्ञ ने कहा है वह, तथा जो सर्वज्ञकथित है और युक्ति द्वारा समर्थित है वह, सत्य है । (२) आगम को प्रमाण न माननेवालो के मतानुसार जो तर्कसिद्ध है, वही सत्य है । किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित, अतीन्द्रिय तथा स्वभावसिद्ध पदार्थों की जानकारी के लिए युक्ति कहाँ तक कार्य कर सकती है, यह श्रद्धा को सर्वथा अस्वीकार करनेवालो के लिए चिन्तनीय है । हम तर्क की ऐकान्तिकता को दूर कर दे तो वह सत्यसन्धानात्मक प्रवृत्ति के लिए दिव्य-चक्षु है । धर्म-दर्शन आत्म-शुद्धि और तत्त्व-व्यवस्था के लिए है, आत्म-वञ्चना या दूसरो को जाल मे फंसाने के लिए नही, इसीलिए दर्शन का क्षेत्र सत्य का अन्वेषण होना चाहिये । भगवान् महावीर के शब्दो मे "सत्य[37] ही लोक मे सारभूत है ।" उपनिषद्कार के शब्दो मे सत्य[38] ही ब्रह्म-विद्या का अधिष्ठान और परम लक्ष्य है । "आत्महितेच्छु[39] पुरुष असत्य, चाहे वह कही हो, को छोड़ सत्य को ग्रहण करे ।" कवि भोज यति की यह माध्यस्थ्यपूर्ण उक्ति प्रत्येक तार्किक के लिए मननीय है ।

दर्शन का मूल

'दर्शन' तार्किक विचार पद्धति, तत्त्वज्ञान[40], विचार-प्रयोजक ज्ञान[41] अथवा परीक्षा-विधि[42] का नाम है । उसका मूल उद्गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है । जिस

वस्तु या सिद्धान्त को लेकर यौक्तिक विचार किया जाये, उसी का वह (विचार) दर्शन बन जाता है—जैसे राजनीति-दर्शन, समाज-दर्शन, आत्म-दर्शन (धर्म-दर्शन) आदि-आदि।

यह सामान्य स्थिति या आधुनिक स्थिति है। पुरानी परिभाषा इतनी व्यापक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दर्शन शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले विचार' के अर्थ में हुआ है। दर्शन यानी वह तत्त्व-ज्ञान, जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि का विचार करे।

आगे चलकर बृहस्पति का लोकायत मत और अजितकेश–कम्बली का उच्छेदवाद तथा तज्जीव–तच्छरीरवाद[४३] जैसी नास्तिक विचार-धाराएँ सामने आईं। तब दर्शन का अर्थ कुछ व्यापक हो गया। वह सिर्फ आत्मा से ही चिपटा न रह सका। दर्शन यानी विश्व की मीमांसा, अस्तित्व या नास्तित्व का विचार अथवा सत्य-शोध का साधन। पाश्चात्य दार्शनिकों की, विशेषतः कार्ल मार्क्स की विचारधारा के आविर्भाव ने दर्शन का क्षेत्र और अधिक व्यापक बना दिया। जैसा कि मार्क्स ने कहा है—"दार्शनिकों[४४] ने जगत् को समझने की चेष्टा की, प्रश्न यह है कि उसका परिवर्तन कैसे किया जाय।" मार्क्स-दर्शन विश्व और समाज दोनों के तत्त्वों का विचार करता है। वह विश्व को समझने की अपेक्षा समाज को बदलने में दर्शन की अधिक सफलता मानता है। आस्तिकों ने समाज पर कुछ भी विचार नहीं किया, यह तो नहीं, किन्तु हाँ, धर्म–कर्म की भूमिका से हटकर उन्होंने समाज को नहीं तोला। उन्होंने अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा नहीं की, फिर भी उनका अंतिम लक्ष्य निःश्रेयस रहा।

कहा भी है—

यदाभ्युदयिकञ्चैव, नैश्रेयसिकमेव च।
सुख साधयितुं मार्गं, दर्शयेत् तद् हि दर्शनम्॥

नास्तिक धर्म–कर्म पर तो नहीं रुके, किन्तु फिर भी उन्हें समाज-परिवर्तन की बात नहीं सूझी। उनका पक्ष प्रायः खण्डनात्मक ही रहा। मार्क्स ने समाज को बदलने के लिए ही समाज को देखा। आस्तिकों का दर्शन समाज से आगे चलता है। उसका लक्ष्य है—शरीर-मुक्ति—पूर्ण स्वतन्त्रता—मोक्ष।

नास्तिकों का दर्शन ऐहिक सुख-सुविधाओं के उपभोग में कोई खामी न रहे,

इसलिए आत्मा का उच्छेद साधकर रुक जाता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का लक्ष्य है—समाज की वर्तमान अवस्था का सुधार। अब हम देखते हैं कि दर्शन शब्द जिस अर्थ मे चला, अब उसमे नही रहा।

हरिभद्रसूरि ने वैकल्पिक[४५] दशा मे चार्वाक मत को छह दर्शनो में स्थान दिया है। मार्क्स-दर्शन भी आज लब्धप्रतिष्ठ है, इसलिए इसको दर्शन न मानने का आग्रह करना सत्य से आँखे मूदने जैसा है।

दर्शनों का पार्थक्य

दर्शनो की विविधता या विविध-विषयता के कारण 'दर्शन' का प्रयोग एकमात्र आत्म-विचार सम्बन्धी नही रहा। इसलिए अच्छा है कि विषय की सूचना के लिए उसके साथ मुख्यतया स्वविषयक विशेषण रहे। आत्मा को मूल मानकर चलने वाले दर्शन का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय धर्म है। इसलिए आत्ममूलक दर्शन की 'धर्म-दर्शन' सज्ञा रखकर चले तो विषय-प्रतिपादन में बहुत सुविधा होगी।

धर्म-दर्शन का उत्स आप्तवाणी—आगम है। ठीक भी है—आधारशून्य विचार-पद्धति किसका विचार करे, सामने कोई तत्त्व नहीं तब किसकी परीक्षा करे? प्रत्येक दर्शन अपने मान्य तत्त्वो की व्याख्या से शुरू होता है। साख्य या जैनदर्शन, नैयायिक या वैशेषिक दर्शन, किसी को भी ले, सबमे स्वाभिमत २५, ६, १६ या ६ तत्त्वो की ही परीक्षा है। उन्होंने ये अमुक-अमुक सख्याबद्ध तत्त्व क्यो माने, इसका उत्तर देना दर्शन का विषय नही, क्योकि वह सत्य-द्रष्टा तपस्वियोके साक्षात्-दर्शन का परिणाम है। माने हुए तत्त्व सत्य हैं या नहीं, उनकी संख्या संगत है या नही, यह बताना दर्शन का काम है। दार्शनिको ने ठीक यही किया है। इसीलिए यह निःसकोच कहा जा सकता है कि दर्शन का मूल आधार आगम है। वैदिक निरुक्तकार इस तथ्य को एक घटना के रूप मे व्यक्त करते हैं—"ऋषियो[४६] के उत्क्रमण करने पर मनुष्यो ने देवताओ से पूछा—अब हमारा ऋषि कौन होगा? तब देवताओ ने उन्हे तर्क नामक ऋषि प्रदान किया।" सक्षेप मे सार इतना ही है कि ऋषियो के समय मे आगम का प्राधान्य रहा। उनके अभाव मे उन्ही की वाणी के आधार पर दर्शन-शास्त्र का विकास हुआ।

———

परिणामि-नित्यत्ववाद

आगम की परिभाषा मे जो गुण[४७] का आश्रय, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, वही द्रव्य है अथवा जो सत्[४८] है—उत्पाद[४९], व्यय ध्रौव्य युक्त है, वही द्रव्य है। इनमे पहली परिभाषा स्वरूपात्मक है और दूसरी अवस्थात्मक। प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'गुण और पर्याय[५०] का आश्रय द्रव्य है' यह उक्त दोनों आगमिक परिभाषाओं का सार है दोनों के समन्वय का तात्पर्य है—द्रव्य को परिणामि-नित्य स्थापित करना।

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी (यावत्-द्रव्यभावी)—गुण और क्रमभावी—पर्याय। बौद्ध सत् द्रव्य को एकान्त-अनित्य (निरन्वय-क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश-स्वभाव) मानते हैं, उस स्थिति मे वेदान्ती सत्पदार्थ-ब्रह्म को एकान्त नित्य। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्य-सत्तावाद। जैन दर्शन इन दोनों का समन्वय कर परिणामि-नित्यत्ववाद स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी, तथा इस परिवर्तन मे उसका अस्तित्व भी नहीं मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमे सजातीयता—'यह वही है', का अनुभव नहीं हो सकता। यदि द्रव्य निर्विकार ही हो तो विश्व की विविधता संगत नहीं हो सकती। इसलिए 'परिणामि-नित्यत्व' जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से होती है। उसका स्थापन सन् १७८९ मे (Lavoisier) नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने किया था। उसका आशय यह है कि विश्व मे द्रव्य का परिमाण सदा समान रहता है। उसमे कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता। न किसी द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति। साधारण दृष्टि से जिसे हम द्रव्य का नाश हो जाना समझते हैं, वह उसका रूपान्तर में परिणमन मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे हम साधारणतया नाश हो गया कहते हैं—परन्तु वह वस्तुतः नाश नहीं हुआ बल्कि वायु मण्डल के ऑक्सिजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस (Carbonic Acid Gas) के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार शक्कर या नमक को पानी मे घोल दिया जाय तो वह उनका भी नाश नहीं, बल्कि ठोस से द्रव रूप मे परिणति मात्र समझनी चाहिए। किसी नवीन वस्तु को उत्पन्न होते देखते हैं··· वह भी वस्तुतः किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तर मात्र है। आज द्रव्याक्षरत्ववाद का यह सिद्धान्त रासायनिक

विज्ञान का बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त समझा जाता है और तुला यन्त्र द्वारा किसी भी समय उसकी सचाई की परीक्षा की जा सकती है।

पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामि-नित्य, इस प्रकार सांख्य भी नित्यानित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट, पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से ये भी परिणामि-नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य मात्र को परिणामि-नित्य नहीं मानते। महर्षि पतञ्जलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने 'परिणामि-नित्यत्ववाद' को एक स्पष्ट सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार नहीं किया, फिर भी उन्होंने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन[५१] किया है। जैन-दर्शन के अनुसार जड या चेतन, प्रत्येक पदार्थ त्रयात्मक है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त[५२] है। इसी का नाम परिणामि-नित्यत्व है।

द्रव्य

द्रव्य छह हैं :—

१ : धर्मास्तिकाय।

२ : अधर्मास्तिकाय।

३ : आकाशास्तिकाय।

४ : काल।

५ : पुद्गलास्तिकाय।

६ : जीवास्तिकाय।

भगवान् ने कहा—"गौतम! गति-सहायक द्रव्य को मैं धर्म कहता हूँ। स्थिति-सहायक द्रव्य को मैं अधर्म कहता हूँ। आधार देने वाले द्रव्य को मैं आकाश कहता हूँ। परिवर्तन के निमित्तभूत द्रव्य को मैं काल कहता हूँ। स्पर्श, रस, गन्ध और रूपयुक्त द्रव्य को मैं पुद्गल कहता हूँ। चेतनावान् द्रव्य को मैं जीव कहता हूँ।"

धर्म और अधर्म

जैन-साहित्य मे जहा धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ प्रवृत्तियो के अर्थ में होता है, वहाँ दो स्वतन्त्र द्रव्यो के अर्थ मे भी होता है। धर्म-गति-तत्त्व है, अधर्म स्थिति-तत्त्व। दार्शनिक जगत् मे जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी इनकी स्थिति

नहीं मानी है। वैज्ञानिकों मे सबसे पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of motion) को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलवर्ट आइस्टीन, ने भी गति-तत्त्व स्थापित किया है—"लोक परिमित है। लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के वाहर नहीं जा सकती। लोक के वाहर उस शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति मे सहायक होता है।" वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गति-तत्त्व का ही दूसरा नाम है। जहाँ वैज्ञानिक अध्यापक छात्रों को इसका अर्थ समझाते हैं, वहाँ ऐसा लगता है, मानो कोई जैन गुरु शिष्यों के सामने धर्म-द्रव्य की व्याख्या कर रहा हो। हवा से रिक्त नालिका मे शब्द की गति होने मे यह अभौतिक ईथर ही सहायक वनता है। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए वताया कि 'जितने भी चल भाव हैं—सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन मात्र हैं, वे सव धर्म की सहायता से प्रवृत्त होते हैं, गति शब्द केवल सांकेतिक[53] है।' गति और स्थिति दोनों सापेक्ष हैं। एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है।

धर्म-अधर्म की तार्किक मीमांसा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनुपयुक्त नहीं होगा—

	द्रव्य से	क्षेत्र से	काल से	भाव से	गुण से
धर्म	एक और[54] व्यापक	लोक-प्रमाण[55]	अनादि-अनन्त	अमूर्त्त	गति-सहायक
अधर्म	,,	,,	,,	,,	स्थिति-सहायक

गौतम—भगवन्! गति-सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें कैसे फैलतीं? आँखें कैसे खुलतीं? कौन मनन करता? कौन वोलता? कौन हिलता-डुलता?—यह विश्व अचल ही होता। जो चल है, उन सवका आलम्वन गति-सहायक तत्त्व ही[56] है।

गौतम—भगवन्! स्थिति-सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम ! स्थिति का सहारा नही होता तो खड़ा कौन रहता ? कौन वैठता ? सोना कैसे होता ? कौन मन को एकाग्र करता ? मौन कौन करता ? कौन निस्पन्द वनता ? निमेष कैसे होता ? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है, उन सवका आलम्बन स्थिति-सहायक तत्त्व ही[५७] है।

धर्म-अधर्म की यौक्तिक अपेक्षा

धर्म और अधर्म को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टिया है—(१) गति-स्थिति-निमित्तक द्रव्य और (२) लोक, अलोक की विभाजक शक्ति। प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त, इन दो कारणों की आवश्यकता होती है। विश्व मे जीव और पुद्गल, दो द्रव्य गतिशील हैं। गति के उपादान कारण तो वे दोनो स्वय हैं। निमित्त कारण किसे माने ? यह प्रश्न सामने आता है, तव हमे ऐसे द्रव्यो की आवश्यकता होती है, जो गति एव स्थिति मे सहायक वन सके। हवा स्वयं गतिशील है, तो पृथ्वी, पानी आदि सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त नही हे। गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक मे होती है। इसलिए हमे ऐसी शक्तियो की अपेक्षा है, जो स्वयं गतिशून्य और सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हो, अलोक[५८] मे न हो। इस यौक्तिक आधार पर हमे धर्म, अधर्म की आवश्यकता का सहज वोध होता है।

लोक-अलोक की व्यवस्था पर दृष्टि डाले, तव भी इनके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। आचार्य मलयगिरि ने इनका अस्तित्त्व सिद्ध करते हुए लिखा है—"इनके विना लोक-अलोक की व्यवस्था नही होती[५९]।"

लोक है इसमे कोई सन्देह नही, क्योकि यह इन्द्रिय-गोचर है। अलोक इन्द्रियातीत है, इसलिए उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न उठता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर अलोक की अस्तिता अपने आप मान ली जाती है। तर्क शास्त्र का नियम है कि "जिसका[६०] वाचक पद व्युत्पत्तिमान् और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत्-प्रतिपक्ष होता है, जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है, वह अलोक है।"

अव हमे उस समस्या पर विचार करना होगा कि ये किस शक्ति से विभक्त होत इससे पूर्व यह जानना भी उपयोगी होगा कि लोक, अलोक क्या है ? जिसमे आदि सभी द्रव्य होते है, वह लोक[६१] है और जहाँ केवल आकाश ही आकाश

होता है, वह अलोक[१३] है। अलोक में जीव, पुद्गल नहीं होते, इसका कारण है वहाँ धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव। इसलिए ये (धर्म-अधर्म) लोक, अलोक के विभाजक बनते हैं। "आकाश" लोक और अलोक दोनों में तुल्य है, इसलिए धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या रहे।"

आकाश

द्रव्यतः	एक और व्यापक।
क्षेत्रतः	लोक-अलोक-प्रमाण।
कालतः	अनादि-अनन्त।
भावतः	अमूर्त्त।
गुणतः	अवगाह-गुण।

गौतम—भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! आकाश नहीं होता तो ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ वरतता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ बनता? यह विश्व निराधार ही होता[१४]।

काल

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्त्या वह जीव और अजीव की पर्याय[१५] है। जहाँ इसके जीव, अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है, वहाँ इसे द्रव्य[१६] भी कहा गया है। ये दोनों कथन विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि से काल जीव, अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि में वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। 'उपकारक द्रव्यम्'—वर्तना आदि काल के उपकार हैं। इन्हीं के कारण वह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकादि[१७] रूप काल जीव, अजीव से भिन्न नहीं है; उन्हीं की पर्याय है।

पुद्गल

विज्ञान जिसको मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन दर्शन ने पुद्गल-संज्ञा दी है। बौद्ध दर्शन में पुद्गल शब्द

आलय-विज्ञान—चेतना-सन्तति के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जैन शास्त्रो मे भी अभेदोपचार से पुद्‌गलयुक्त[६८] आत्मा को पुद्‌गल कहा है। किन्तु मुख्यतया पुद्‌गल का अर्थ है मूर्तिक द्रव्य। छह द्रव्यो मे काल को छोडकर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं—यानी अवयवी है, किन्तु फिर भी इन सवकी स्थिति एक-सी नही। जीव, धर्म, अधर्म और आकाश—ये चार अविभागी है। इनमे सयोग और विभाग नही होता। इनके अवयव परमाणु द्वारा कल्पित किये जाते हैं। कल्पना करो—यदि इन चारो के परमाणु जितने-जितने खण्ड करे तो जीव, धर्म, अधर्म के असख्य और आकाश के अनन्त खण्ड होते हे। पुद्‌गल अखण्ड द्रव्य नहीं है। उसका सवसे छोटा रूप एक परमाणु है और सवसे वडा रूप है विश्वव्यापी अचित्त-महास्कन्ध[६९]। इसीलिए उसको पूरण-गलन-धर्मा कहा है। छोटा-वडा, सूक्ष्म-स्थूल, हल्का-भारी, लम्वा-चौडा, वन्ध-भेद, आकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया—इनको पौद्‌गलिक मानना जैन तत्त्व ज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

गौतम—भगवन्। पुद्‌गल का क्या कार्य है ?

भगवान्—गौतम। पुद्‌गल नही होता तो शरीर किसका वनता ? विविध-क्रिया करने वाला शरीर किससे वनता ? विभूतियो का निमित्त कौन होता ? कौन तेज, पाचन और दीपन करता ? सुख-दुःख की अनुभूति और व्यामोह का साधन कौन वनता ? शव्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और इनके द्वार—कान, आँख, नाक, जीभ, और चर्म कौन वनते ? मन, वाणी और स्पन्दन का निमित्त कौन वनता ? श्वास और उच्छ्‌वास कौन होता ? अन्धकार और प्रकाश नही होते, आहार और विहार नही होते, धूप और छाँह नही होती। कौन छोटा होता, कौन वडा ? कौन लम्वा होता, कौन चौड़ा ? त्रिकोण और चतुष्कोण नहीं होते। वर्तुल और परिमण्डल भी नही होते। सयोग और वियोग नही होते—सुख और दुःख, जीवन और मृत्यु नही होते। यह विश्व अदृश्य ही होता[७०]।

शब्द

जैन दार्शनिको ने शव्द को केवल पौद्‌गलिक कहकर ही विश्राम नही लिया किन्तु ... की उत्पत्ति,[७१] शीघ्रगति,[७२] लोकव्यापित्व,[७३] स्थायित्व[७४] आदि विभिन्न ...। पर पूरा प्रकाश डाला है। तार का सम्वन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टा का

शब्द[७५] असंख्य योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है—यह विवेचन उस समय का है, जबकि रेडियो, वायरलेस आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था। हमारा शब्द क्षण मात्र मे लोक व्यापी वन जाता है, यह सिद्धान्त भी आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था।

जीव

गौतम—भगवन्। जीव का क्या कार्य है ?

भगवान्—गौतम। जीव नही होता तो कौन उत्थान करता ? कौन कर्म, वल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम करता ? यह उत्थान जीव की सत्ता का प्रदर्शन है। यह कर्म, वल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम जीव की सत्ता का प्रदर्शन है। कौन ज्ञानपूर्वक क्रिया मे प्रवृत्त होता ? यह विश्व अचेतन ही होता, ज्ञानपूर्वक कुछ भी नही होता। ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति और निवृत्ति है—वह जीव की सत्ता का प्रदर्शन है।[७६]

एक-द्रव्य . अनेक-द्रव्य

समान जातीय द्रव्यो की दृष्टि से सव द्रव्यो की स्थिति एक नही है। छह द्रव्यो मे धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीन द्रव्य एक-द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से एक हैं। इनके समानजातीय द्रव्य नहीं हैं। एक-द्रव्य द्रव्य-व्यापक होते हैं—धर्म, अधर्म समूचे लोक मे व्याप्त है, आकाश लोक, अलोक दोनो मे व्याप्त है। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनेक द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से अनन्त हे।

पुद्गल द्रव्य साख्य-सम्मत प्रकृति[७७] की तरह एक या व्यापक नही किन्तु अनन्त हैं, अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध हैं। जीवात्मा भी एक और व्यापक नहीं, अनन्त हैं। काल के भी समय[७८] अनन्त हे। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन मे द्रव्यो की संख्या के दो ही विकल्प हैं—एक[७९] या अनन्त। कई ग्रन्थकारो ने काल के असंख्य परमाणु माने हैं पर वह युक्त नही। यदि उन कालाणुओं को स्वतन्त्र द्रव्य माने, तव तो द्रव्य-संख्या मे विरोध आता है और यदि उन्हे एक समुदय के रूप मे मानें तो अस्तिकाय की संख्या मे विरोध आता है। इसलिए "कालाणु असख्य हें और वे समूचे लोकाकाश मे फैले हुए हे" यह वात किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

लोक

जैन आगमो मे लोक की परिभाषा कई प्रकार से मिलती है। धर्मास्तिकाय[८०] लोक है। जीव[८१] और अजीव यह लोक है। लोक पञ्चास्तिकायमय[८२] है। जो आकाश[८३] षड्द्रव्यात्मक है, वह लोक है। इन सबमे कोई विरोध नहीं, केवल अपेक्षा-भेद से इनका प्रतिपादन हुआ है। धर्म-द्रव्य लोक-प्रमित है, इसलिए उसे लोक कहा गया है। सक्षिप्त दृष्टि के अनुसार जहाँ पदार्थ को चेतन और अचेतन उभयरूप[८४] माना गया है, वहाँ लोक का भी चेतनाचेतनात्मक स्वरूप बताया है। काल समूचे लोक मे व्याप्त नही अथवा वह वास्तविक द्रव्य नहीं, इसलिए लोक पञ्चास्तिकाय भी बताया गया है। सब द्रव्य छह हैं। इनमे आकाश सबका आधार है, इसलिए उसके आश्रय पर ही दो विभाग किये गये हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। अलोकाकाश मे आकाश के सिवाय कुछ भी नहीं। लोकाकाश मे सभी द्रव्य हैं। व्यावहारिक काल सिर्फ मनुष्य लोक मे है। किन्तु वह है लोक मे ही, इसलिए 'अंशस्यापि क्वचित् पूर्णत्वेन व्यपदेश.' के अनुसार लोक को षड्द्रव्यात्मक मानना भी युक्तिसिद्ध है। कहा भी है—'द्रव्याणि[८५] षट प्रतीतानि, द्रव्यलोकः स उच्यते।'

असंख्य-द्वीप-समुद्र और मनुष्य-क्षेत्र

जैन दृष्टि के अनुसार भूवलय (भूगोल) का स्वरूप इस प्रकार है—तिरछे लोक मे असंख्य द्वीप और असख्य समुद्र हैं। उनमे मनुष्यो की आबादी सिर्फ ढाई द्वीप (जम्बू, धातकी और अर्ध-पुष्कर) मे ही है। इनके बीच मे लवण और कालोदधि, ये दो समुद्र भी आ जाते हैं। बाकी के द्वीप समुद्रो मे न तो मनुष्य पैदा होते हैं और न सूर्य चन्द्र की गति होती है, इसलिए ये ढाई द्वीप और दो समुद्र शेष द्वीप समुद्रो से विभक्त हो जाते हैं। इनको मनुष्य क्षेत्र तथा समय क्षेत्र कहा जाता है। शेष इनसे व्यतिरिक्त हैं। उनमे सूर्य, चन्द्र हैं सही, पर वे चलते नहीं, स्थिर हैं। जहाँ सूर्य है वहाँ सूर्य और जहाँ चन्द्रमा है वहाँ चन्द्रमा। इसलिए वहाँ समय का माप नहीं है। तिरछा लोक असख्य योजन का है, उसमे मनुष्य लोक सिर्फ ४५ लाख योजन का है। पृथ्वी का इतना बडा रूप वर्तमान की साधारण दुनिया को भले ही एक कल्पना सा लगे, किन्तु विज्ञान के विद्यार्थी के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं। वैज्ञानिको ने ग्रह, उपग्रह और ताराओ के रूप मे असंख्य पृथ्विया मानी हैं। वैज्ञानिक जगत् के अनुसार

"ज्येष्ठ तारा इतना बड़ा है कि उसमें हमारी वर्तमान दुनिया जैसी सात[८६] नील पृथ्विया समा जाती हैं।" वर्तमान मे उपलब्ध पृथ्वी के बारे मे एक वैज्ञानिक ने लिखा है—"और[८७] तारो के सामने यह पृथ्वी एक धूल के कण के समान है।" विज्ञान नीहारिका की लम्बाई-चौडाई का जो वर्णन करता है, उसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति आधुनिक या विज्ञानवादी होने के कारण ही प्राच्य वर्णनो को कपोल-कल्पित नहीं मान सकता। "नंगी[८८] आखो से देखने से यह नीहारिका शायद एक धुधले बिन्दु-मात्र-सी दिखलाई पडेगी, किन्तु इसका आकार इतना बडा है कि हम बीस करोड़ मील व्यास वाले गोले की कल्पना करे, तब ऐसे दस लाख गोलो की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान करे—फिर भी उक्त नीहारिका की लम्बाई-चौडाई के सामने उक्त अपरिमेय आकार भी तुच्छ होगा और इस ब्रह्माण्ड मे ऐसी हजारो नीहारिकाएं हैं। इससे भी बडी तथा इतनी दूरी पर हैं कि १ लाख ८६ हजार मील प्रति सैकेण्ड चलने वाले प्रकाश को वहाँ से पृथ्वी तक पहुँचने मे १० से ३० लाख वर्ष तक लग सकते है।" वैदिक शास्त्रो मे भी इसी प्रकार अनेक द्वीप-समुद्र होने का उल्लेख मिलता है। जम्बू-द्वीप, भरत आदि नाम भी समान ही हैं। आज की दुनिया एक अन्तर-खण्ड के रूप में है। इसका शेष दुनिया से सम्बन्ध जुडा हुआ नही दीखता। फिर भी दुनिया को इतना ही मानने का कोई कारण नही। आज तक हुई शोधो के इतिहास को जानने वाला इस परिणाम पर कैसे पहुँच सकता है कि दुनिया बस इतनी है और उसकी अन्तिम शोध हो चुकी है।

नव तत्त्व

रहस्यभूत वस्तु को तत्त्व कहते हैं। तत्त्व संख्या मे नौ हैं, उनके भेद निम्नोक्त हैं:—

१ : जीव
२ : अजीव
३ : पुण्य
४ : पाप
५ : आस्रव
६ : संवर
७ : निर्जरा
८ : बंध
९ : मोक्ष

नव तत्त्वो का विधान साधना की दृष्टि से किया गया है। जीव-अजीव दो मुख्य तत्त्व हैं। आत्मा के साथ पुद्गल का जो सम्बन्ध होता है, वह वन्ध है। सुख देने वाला पुद्गल-समूह पुण्य तत्त्व है। दुःख देने वाला और ज्ञान आदि को रोकने वाला पुद्गल-समूह पाप तत्त्व है। आत्मा की प्रवृत्ति व मलिनता ही आस्रव है। त्याग भावना सवर है। कर्म के आवरण का क्षीण होना निर्जरा है। सर्वथा सम्पूर्ण रूप से आवरण का क्षीण हो जाना मोक्ष है।

षट् द्रव्य व नव तत्त्व का समावेश जीव-राशि व अजीव-राशि मे हो जाता है। धर्मास्तिकाय आदि पॉच द्रव्य अजीव-राशि मे तथा जीवास्तिकाय जीव-राशि मे हैं। नव तत्त्वो मे—जीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, मोक्ष—ये पॉच जीव-राशि मे हैं और अजीव, पुण्य, पाप, वन्ध—ये चार अजीव-राशि मे हैं।

कर्मवाद

भारत के सभी आस्तिक दर्शनो मे जगत् की विभक्ति[८९], विचित्रता[९०] और साधन[९१] तुल्य होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है। उस हेतु को वेदान्ती अविद्या, वौद्ध वासना, साख्य क्लेश और न्याय-वैशेषिक अदृष्ट तथा जैन कर्म[९२] कहते हैं। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशमात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओ पर विचार करते-करते वहुत आगे वढ जाते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मो का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है, जव तक उसका फल नही मिल जाता, तव तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से[९३] मिलता है, कारण कि यदि ईश्वर कर्म फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जॉय। साख्य[९४] कर्म को प्रकृति का विकार मानते हैं। अच्छी बुरी प्रवृत्तियो का प्रकृति पर सस्कार पडता है। उसे प्रकृतिगत सस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। वौद्धो ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य कारण-भाव के रूप मे सुख-दुःख का हेतु वनती है। जैन दर्शन कर्म को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओ के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी बुरी प्रवृत्तियो के द्वारा उसके साथ वध जाते हैं। यह उनकी वध्यमान (वन्ध) अवस्था है। वधने के वाद उसका परिपाक होता है, वह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के वाद उनसे सुख-दुःखरूप तथा आवरणरूप फल मिलता है, उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनो मे कर्मो की क्रियमाण, संचित और

प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाए वताई गई हैं। वे ठीक क्रमशः वन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं। वन्ध के प्रकृति, स्थिति, विपाक और प्रदेश—ये चार प्रकार, उदीरणा-कर्म का शीघ्र फल मिलना, उद्वर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना, अपवर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक मे कमी होना, संक्रमण—कर्म की सजातीय प्रकृतियो का एक दूसरे के रूप मे वदलना आदि-आदि अवस्थाएं जैनो के कर्म-सिद्धान्त के विकास की सूचक हैं। वन्ध के कारण क्या हैं? वधे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित? कर्म जिस रूप मे वंधते हैं, उसी रूप मे उनका फल मिलता है या अन्यथा? धर्म करने वाला दुःखी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे? आदि-आदि विपयों पर जैन ग्रन्थकारो ने खूब विस्तृत विवेचन किया है। इन सवको लिया जाय तो दूसरा ग्रन्थ वन जाय। इसलिए यहाँ इन सव प्रसंगो मे न जाकर दो-चार विशेष वातो की ही चर्चा करना उपयुक्त होगा। वे हैं—कर्म की पौद्गलिकता, आत्मा से उसका सम्वन्ध कैसे? वह अनादि है, तव उसका अन्त कैसे? फल की प्रक्रिया, आत्मा स्वतन्त्र है या उसके अधीन?

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहाँ सस्कार या वासना रूप मानते ह, वहाँ जैन दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। "जिस[१०] वस्तु का जो गुण होता हे, वह उसका विघातक नही वनता।" आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु कैसे वने?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखो का हेतु है—गुणो का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नही हो सकता।

वेडी से मनुष्य वॅधता है, सुरापान से पागल वनता है, क्लोरोफार्म (Cloroform) से वेभान वनता है—ये सव पौद्गलिक वस्तुए हे। ठीक इसी प्रकार कर्म के सयोग से भी आत्मा की ये दशाएं होती हैं, इसलिए वह भी पौद्गलिक है। ये वेडी आदि वाहरी वन्धन एव अल्प सामर्थ्यवाली वस्तुएं हे। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्यवाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इसीलिए उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओ का जीवात्मा पर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पडता है।

शरीर पौद्गलिक हे। उसका कारण कर्म है, इसलिए वह भी पौद्गलिक है।

पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है तो उससे वनने वाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री से सुखानुभूति और शस्त्र प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। यह आहार और शस्त्र पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार सुख दुःख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कैसे ?

आत्मा अमूर्त्त है, तव उसका मूर्त्त कर्म से सम्वन्ध कैसे हो सकता है ? यह भी कोई जटिल समस्या नही है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनो ने ससार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्म-वद्ध और विकारी है। कर्म-वद्ध आत्माएं कथञ्चित् मूर्त्त हैं अर्थात् निश्चय दृष्टि के अनुसार स्वरूपतः अमूर्त्त होते हुए भी वे ससार-दशा[१६] मे मूर्त्त होती हं। जीव दो प्रकार के हैं—रूपी[१७] और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी जीव रूपी।

कर्म-मुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का वन्ध नही होता। कर्म-वद्ध आत्मा के ही कर्म बँधते हैं। उन दोनो का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादिकालीन सम्वन्ध चला आ रहा है।

अमूर्त्त ज्ञान पर मूर्त्त मादक द्रव्यो का असर होता है, वह अमूर्त्त के साथ मूर्त्त का सम्वन्ध हुए विना नही हो सकता। इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त्त आत्मा के साथ मूर्त्त का सम्बन्ध होने मे कोई आपत्ति नहीं आती।

अनादि का अन्त कैसे ?

जो अनादि होता है, उसका अन्त नही होता, ऐसी दशा मे अनादिकालीन कर्म-सम्वन्ध का अन्त कैसे हो सकता है ? यह ठीक, किन्तु इसमे वहुत कुछ समझने जैसा है। अनादि का अन्त नही होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्वन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह लागू नही भी होता। प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका का, दूध और घी का सम्वन्ध अनादि है, ·र भी वे पृथक् होते हं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्वन्ध का अन्त । है। यह ध्यान रहे कि इसका सम्वन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है, व्यक्तिशः

नहीं। आत्मा से जितने कर्म-पुद्‌गल चिपटते हैं, वे सब अवधिसहित होते हैं। कोई भी एक कर्म अनादि काल से आत्मा के साथ घुल-मिल कर नही रहता। आत्मा मोक्षोचित सामग्री पा, अनास्रव वन जाती है, तव नये कर्मो का प्रवाह रुक जाता है, सचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त वन जाती है।

फल की प्रक्रिया

कर्म जड—अचेतन है। तव वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु वना। इसीलिए उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता वतलाया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नही समझता। कर्म-परमाणुओ मे जीवात्मा के सम्वन्ध से एक विशिष्ट[९८] परिणाम होता है। वह द्रव्य[९९], क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति[१००], स्थिति, पुद्‌गल, पुद्‌गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन मे समर्थ हो जीवात्मा के सस्कारो को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ मे आत्मा अपने किये का अपने आप फल[१०१] भोगता है, कर्म-परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विप और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी आत्मा का सयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खानेवाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिल जाता है। विज्ञान के क्षेत्र मे परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगो के अध्ययन के वाद कर्मो की फल-दान-शक्ति के वारे मे कोई सन्देह नहीं रहता।

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन

कर्म की मुख्य अवस्थाए दो हैं—वन्ध और उदय। दूसरे शब्दो मे ग्रहण और फल। "कर्म[१०२] ग्रहण करने मे जीव स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने मे परतन्त्र। जैसे कोई व्यक्ति वृक्षपर चढता है, वह चढने मे स्वतन्त्र है—इच्छानुसार चढता है। प्रमादवश गिर जाय तो वह गिरने मे स्वतन्त्र नहीं है।" इच्छा से गिरना नही चाहता फिर भी गिर जाता है, इसलिए गिरने मे परतन्त्र है। इसी प्रकार विष खाने में स्वतन्त्र है, उसका परिणाम भोगने मे परतन्त्र। एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किन्तु उसके फल-स्वरूप होनेवाले अजीर्ण से नही वच सकता।

कर्म-फल भोगने मे जीव परतन्त्र है, यह कथन प्रायिक है। कहीं-कहीं उसमें जीव स्वतन्त्र भी होते हैं। "जीव[१०३] और कर्म का सघर्ष चलता रहता है। जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है, तब वह कर्मा को पछाड देता है और कर्मा की बहुलता होती है, तब जीव उनसे दब जाता हे।" इसलिए यह मानना होता है कि कहीं जीव कर्म के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन।

कर्म के दो प्रकार होते हैं—(१) निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नही हो सकता, (२) दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता हे अथवा सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम—जो कर्म उपचार-साध्य होता हे। निरुपक्रम—जिसका कोई प्रतिकार नहीं होता, जिसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता। निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनो बातें हैं—जहाँ जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव प्रबल धृति, मनोबल, शरीरबल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है, वहॉ कर्म उसके अधीन होता हे। उदय-काल से पूर्व कर्म को उदय मे ला, तोड़ डालना, उनकी स्थिति और रस को मन्द कर देना, यह सब इसी स्थिति मे हो सकता है। यदि यह न होता तो तपस्या करने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। पहले बँधे हुए कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हे शीघ्र तोड़ डालने के लिए ही तपस्या की जाती है। पातञ्जलयोगभाष्य में भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय-कर्म की तीन गतियॉ बतलाई हैं। उनमें "कोई[१०४] कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।" एक गति यह है। इसी को जैन दर्शन मे उदीरणा कहा है।

क्षयोपशम

आठ कर्मों मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, ये चार कर्म घाती हैं, और शेष चार अघाती। घाती कर्म आत्म-गुणो की साक्षात् घात करते हैं। इनकी अनुभाग-शक्ति का सीधा असर जीव के ज्ञान आदि गुणो पर होता है, गुण-विकास रुकता है। अघाती कर्मो का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यो से होता है। इनकी अनुभाग-शक्ति का जीव के गुणो पर सीधा असर नहीं होता। अघाती कर्मों का या उदय होता है या क्षय—सर्वथा अभाव। इनके उदय से जीव का पौद्गलिक द्रव्य से जुड़ा रहता है। इन्हीके उदय से आत्मा 'अमूर्तोऽपि मूर्त्त इव' रहती है।

इनके क्षय से जीव का पौद्गलिक द्रव्य से सदा के लिए सर्वथा सम्वन्ध टूट जाता है। और इनका क्षय मुक्त-अवस्था के पहले क्षण मे होता है। घाती कर्मों के उदय से जीव के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व-चारित्र और वीर्य शक्ति का विकास रुका रहता है। फिर भी उक्त गुणो का सर्वावरण नहीं होता। जहाँ इनका (घातिक कर्मों का) उदय होता है, वहाँ अभाव भी। यदि ऐसा न हो, आत्मा के गुण पूर्णतया ढक जाएँ तो जीव और अजीव मे कोई अन्तर न रहे। इसी आशय से नन्दीसूत्र में कहा है :—

—"पूर्ण ज्ञान का अनन्तवा भाग तो जीव मात्र के अनावृत रहता है, यदि वह आवृत हो जाय तो जीव अजीव वन जाय। मेघ कितना ही गहरा हो, फिर भी चाद और सूरज की प्रभा कुछ न कुछ रहती[१०५] है।" यदि ऐसा न हो तो रात-दिन का विभाग ही मिट जाय। घाती कर्म के दलिक दो प्रकार के होते हैं—देश-घाती और सर्व-घाती। जिस कर्म-प्रकृति से आंशिक गुणो की घात होती है, वह देश-घाती और जो पूर्ण गुणो की घात करे, वह सर्व-घाती। देश-घाती कर्म के स्पर्धक भी दो प्रकार के होते हैं— देश-घाती स्पर्धक और सर्व-घाती स्पर्धक। सर्व-घाती स्पर्धको का उदय रहने तक देश-गुण भी प्रगट नहीं होते। इसलिए आत्म-गुण का यत् किञ्चित् विकास होने मे भी सर्व-घाती स्पर्धकों का अभाव होना आवश्यक है, चाहे वह क्षयरूप हो या उपशमरूप। जहाँ सर्व-घाती स्पर्धको में कुछ का क्षय और कुछ का उपशम रहता है और देश-घाती स्पर्धको का उदय रहता है, उस कर्म-अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम मे विपाकोदय नहीं होता। इसका अभिप्राय यही है कि सर्व-घाती स्पर्धको का विपाकोदय नहीं रहता। देश-घाती स्पर्धको का विपाकोदय गुणो के प्रगट होने मे वाधा नहीं डालता। इसलिए यहाँ उसकी अपेक्षा नहीं की गई। क्षयोपशम की कुछेक रूपान्तर के साथ तीन व्याख्याएं हमारे सामने आती हैं—(१) घाती कर्म का विपाकोदय नहीं होना क्षयोपशम है—इससे मुख्यतया कर्म की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। (२) उदय में आये हुए घाती कर्म का क्षय होना, उपशम होना—विपाक रूपसे उदय मे न आना, प्रदेशोदय रहना क्षयोपशम है। इसमे प्रधानतया क्षयोपशम-दशा मे होने वाले कर्मोदय का स्वरूप स्पष्ट होता है। (३) सर्व-घाती स्पर्धको का क्षय होना, सत्तारूप उपशम होना तथा देश-घाती स्पर्धको का उदय रहना क्षयोपशम है। इससे प्राधान्यतः क्षयोपशम के कार्य्य (आवारक शक्ति) के नियमन का वोध होता है।

साराश सवका यही है—जिस कर्म-दशा में क्षय, उपशम और उदय, ये तीनो

वाते मिलें, वह क्षयोपशम है। अथवा घाती कर्मो का जो आंशिक अभाव है—क्षययुक्त उपशम है, वह क्षयोपशम है। क्षयोपशम मे उदय रहता अवश्य है किन्तु उसका क्षयोपशम के फल पर कोई असर नही होता। इसलिए इस कर्म-दशा को क्षय-उपशम—इन दो शब्दो के द्वारा ही व्यक्त किया है।

लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के ससर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार। आत्मा चेतन है, जड़-स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी ससार-दशा मे इसका जड-द्रव्य—पुद्गल के साथ गहरा ससर्ग रहता है, इसीलिए जड-द्रव्यजन्य परिणामों का जीव पर असर हुए विना नहीं रहता। जिन पुद्गलो से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी द्रव्य-लेश्या कहलाते है। द्रव्य-लेश्याए पौद्गलिक हैं, इसलिए इनमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं। लेश्याओ का नामकरण द्रव्य-लेश्याओ के रग के आधार पर हुआ हैं, जैसे कृष्ण लेश्या, नील लेश्या आदि-आदि। पहली तीन लेश्याए अप्रशस्त लेश्याए ह। इनके वर्ण आदि चारो गुण अशुभ होते ह। उत्तरवर्ती तीन लेश्याओ के वर्ण आदि चारो शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं। खान-पान, स्थान और वाहरी वातावरण एव वायुमण्डल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्राय: सर्वसम्मत-सी वात है। 'जैसा अन्न वैसा मन'—यह उक्ति भी निराधार नहीं है। शरीर और मन, दोनो परस्परापेक्ष हैं। इनमे एक दूसरे की क्रिया का एक दूसरे पर असर हुए विना नहीं रहता। "जल्लेसाईं दव्वाइ आदि अति तल्ले से परिणामे भवइ[१०६]"—जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है। इस आगम-वाक्य से उक्त विषय की पुष्टि होती है। व्यावहारिक जगत् में भी यही वात पाते हैं—प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली में मानस रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रगो की किरणो का या विभिन्न रगो की वोतलो के जलो का प्रयोग किया जाता है। योग-प्रणाली मे पृथ्वी, जल आदि तत्त्वो के रगो के परिवर्तन के अनुसार मानस-परिवर्तन का क्रम वतलाया है।

इस पूर्वोक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य-लेश्या के साथ भाव-लेश्या का गहरा सम्वन्ध है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि द्रव्य-लेश्या के ग्रहण का कारण है ? यदि भाव-लेश्या को उसका कारण माने तो उसका अर्थ होता है—[illegible]श्या के अनुरूप द्रव्य-लेश्या, न कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या। ऊपर

की पंक्तियो में यह वताया गया है कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या होती है। यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान के लिए हमे लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। भाव लेश्या यानी द्रव्य-लेश्या के साहाय्य से होनेवाले आत्मा के परिणाम की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह-कर्म के उदय से तथा उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशम से[१०७]। औदयिक भाव-लेश्याए बुरी (अप्रशस्त) होती हैं और औपशमिक, क्षायिक या क्षयोपशमिक लेश्याए भली (प्रशस्त) होती हैं। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त और तेज, पद्म एवं शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याए हैं। प्रज्ञापना मे कहा है—पहली तीन लेश्याएं बुरे अध्यवसायवाली है, इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं और उत्तरवर्ती तीन लेश्याए भले अध्यवसायवाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं[१०८]। उत्तराध्ययन मे इनको अधर्म-लेश्या और धर्म-लेश्या भी कहा है—कृष्ण, नील और कापोत ये—तीन अधर्म-लेश्याए हैं और तेजः, पद्म एवं शुक्ल—ये तीन धर्म-लेश्याए हैं[१०९]। उक्त प्रकरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय (भाव-लेश्या) होने का मूल कारण मोह का अभाव (पूर्ण या अपूर्ण) या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल-द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायो के सहकारी कारण वनते हें। तात्पर्य यह है कि मात्र काले, नीले आदि पुद्गलो से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नही वनते। परिभाषा के शब्दो मे कहे तो सिर्फ द्रव्य-लेश्या के अनुरूप ही भाव-लेश्या नहीं वनती। मोह का भाव-अभाव तथा द्रव्य-लेश्या—इन दोनो के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम वनते हैं। द्रव्य-लेश्याओं के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की जानकारी सहवर्ती यंत्र से हो सकती है। लेश्या की विशेष जानकारी के लिए प्रज्ञापना का १७ वा पद और उत्तराध्ययन का ३४ वा अध्ययन द्रष्टव्य है। जैनेतर ग्रन्थो मे भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवो की कई अवस्थाएँ बतलाई हैं। तुलना के लिए देखो महाभारत पर्व १२—२८६। पातञ्जल योग मे वर्णित कर्म की कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण[११०]—ये चार जातियाँ भाव-लेश्या की श्रेणी मे आती हैं। साख्यदर्शन[१११] तथा श्वेताऽश्वतरोपनिषद्[११२] मे रजः, सत्त्व और तमोगुण को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है। यह द्रव्य-लेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरंजित करता है इसलिए वह लोहित है। सत्त्व-गुण से मन मलरहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमोगुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्तगुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्त-गुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभ से अनन्तगुण कर्कश
नील	नीलम के समान नीला	सौठ से अनन्तगुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजः	हिंगुल—सिन्दूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्तगुण मधुर	सुरभि - कुसुम की गन्ध से अनन्तगुण इष्ट गन्ध	नवनीत—मक्खन से अनन्तगुण सुकुमार
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्तगुण मिष्ट		
शुक्ल	शख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त-गुण मिष्ट		

जातिवाद

ढाई हजार वर्ष पूर्व से ही जातिवाद की चर्चा वडे उग्र रूप से चल रही है। इसने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक—प्रायः सभी क्षेत्रो को प्रभावित किया। इसके मूल में दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं—एक ब्राह्मण-परपरा की, दूसरी श्रमण-परपरा की। पहली परंपरा में जाति को तात्त्विक मानकर 'जन्मना जातिः का सिद्धान्त स्थापित किया। दूसरी ने जाति को अतात्त्विक माना और 'कर्मणा जातिः' यह पक्ष सामने रक्खा। इस जन-जागरण के कर्णधार थे श्रमण भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध। इन्होने जातिवाद के विरुद्ध वडी क्रान्ति की और इस आन्दोलन को वहुत सजीव और व्यापक वनाया। ब्राह्मण-परपरा मे जहाँ "ब्रह्मा के मुह से जन्मने वाले ब्राह्मण, वाहु से जन्मने वाले क्षत्रिय, ऊरु से जन्मने वाले वैश्य, पैरो से जन्मने वाले शूद्र और अन्त मे पैदा होने वाले अन्त्यज"[११३]—यह व्यवस्था थी, वहाँ श्रमण-परपराने—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, और शूद्र अपने-अपने कर्म—आचरण या वृत्ति के अनुसार होते हैं"[११४]—यह

आवाज बुलन्द की। श्रमण-परपरा की क्रान्ति से जातिवाद की शृङ्खलाएँ शिथिल अवश्य हुई पर उनका अस्तित्व नहीं मिटा। फिर भी यह मानना होगा कि इस क्रान्ति की ब्राह्मण-परंपरा पर भी गहरी छाप पड़ी। "चाण्डाल और मच्छीमार के घर मे पैदा होने वाले व्यक्ति भी तपस्या से ब्राह्मण बन गए, इसलिए जाति कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है"[११५] यह विचार इसका साक्षी है।

जातिवाद की तात्त्विकता ने मनुष्यो मे जो हीनता के भाव पैदा किये, वे अन्त मे छुआछूत तक पहुँच गए। इसके लिए राजनैतिक क्षेत्र मे महात्मा गाधी ने भी काफी आन्दोलन किया। उसके कारण आज भी यह प्रश्न ताजा और सामयिक बन रहा है। इसलिए जाति क्या है? वह तात्त्विक है या नहीं? कौनसी जाति श्रेष्ठ है? आदि-आदि प्रश्नो पर भी विचार करना आवश्यक है।

वह वर्ग या समूह जाति है[११६], जिसमे एक ऐसी समान शृङ्खला हो, जो दूसरों मे न मिले। मनुष्य एक जाति है। मनुष्य मनुष्य मे समानता है और वह अन्य प्राणियो से विलक्षण भी है। मनुष्य-जाति बहुत बडी है, बहुत बड़े भूवलय पर फैली हुई है। विभिन्न जलवायु और प्रकृति से उसका सम्पर्क है। इससे उसमे भेद होना भी अस्वाभाविक नहीं। किन्तु वह भेद औपाधिक हो सकता है, मौलिक नहीं। एक भारतीय है, दूसरा अमेरिकन है, तीसरा रसियन—इसमे प्रादेशिक भेद है पर 'वे मनुष्य हैं' इसमें क्या अन्तर है, कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जलवायु के अन्तर से कोई गोरा है, कोई काला। भाषा के भेद से कोई गुजराती बोलता है, कोई बगाली। धर्म के भेद से कोई जैन है, कोई बौद्ध, कोई वैदिक है, कोई इस्लाम, कोई क्रिश्चियन। रुचि-भेद से कोई धार्मिक है कोई राजनैतिक तो कोई सामाजिक। कर्म-भेद से कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य तो कोई शूद्र। जिनमे जो जो समान गुण हैं, वे उसी वर्ग मे समा जाते हैं। एक ही व्यक्ति अनेक स्थितियो मे रहने के कारण अनेक वर्गो में चला जाता है। एक वर्ग के सभी व्यक्तियो की भाषा, वर्ण, धर्म, कर्म एक से नहीं होते हैं। इन औपाधिक भेदो के कारण मनुष्य-जाति में इतना संघर्ष बढ गया है कि मनुष्यों को अपनी मौलिक समानता समझने तक का अवसर नहीं मिलता। प्रादेशिक भेद के कारण बडे बडे सग्राम हुए और आज भी उनका अन्त नहीं हुआ है। वर्ण भेद के कारण अफ्रीका में जो कुछ हो रहा है, वह मानवीय तुच्छता का अन्तिम परिचय है। धर्म-भेद के कारण सन् ४८ मे होने वाला हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष मनुष्य के

सिर कलंक का टीका है। कर्म-भेद के कारण भारतीय जनता के जो छुआछूत का कीटाणु लगा हुआ है, वह मनुष्य-जाति को पनपने नहीं देता। ये सब समस्यायें हैं। इनको पार किये बिना मनुष्य-जाति का कल्याण नहीं। मनुष्य जाति एकता से हटकर इतनी अनेकता में चली गई है कि उसे आज फिर मुड़कर देखने की आवश्यकता है—मनुष्य जाति एक है—धर्म जाति-पाति से दूर है—इसको हृदय में उतारने की आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह रहा कि जाति तात्त्विक है या नहीं ? इसकी मीमासा करने से पहले इतना सा और समझ लेना होगा कि इस प्रसग का दृष्टिकोण भारतीय अधिक है, विदेशी कम। भारतवर्ष मे जाति की चर्चा प्रमुखतया कर्माश्रित रही है। भारतीय पंडितो ने उसके प्रमुख विभाग चार बतलाये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जन्मना जाति मानने वाली ब्राह्मण परपरा इनको तात्त्विक—शाश्वत मानती है और कर्मणा जाति मानने वाली श्रमण-परपरा के मतानुसार ये अशाश्वत हैं। हम यदि निश्चय-दृष्टि मे जाए तो तात्त्विक मनुष्य जाति है[११७]—मनुष्य आजीवन मनुष्य रहता है—पशु नहीं बनता। कर्मकृत जाति मे तात्त्विकता का कोई लक्षण नहीं—कर्म के अनुसार जाति है, कर्म बदलता है, जाति बदल जाती है[११८]। रत्नप्रभसूरि ने बहुत सारे शूद्रो को भी जैन बनाया। आगे चलकर उनका कर्म व्यवसाय हो गया। उनकी सन्तानें आज कर्मणा वैश्य-जाति मे हैं। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं—भारत में शक, हूण आदि कितने ही विदेशी आये और भारतीय जातियो मे समा गए।

व्यवहार-दृष्टि मे—ब्राह्मण-कुल मे जन्म लेने वाला ब्राह्मण, वैश्य-कुल मे जन्म लेने वाला वैश्य—ऐसी व्यवस्था चलती है। इसको भी तात्त्वितकता से नहीं जोड़ा जा सकता; कारण कि ब्राह्मण कुल मे पैदा होने वाले व्यक्ति मे वैश्योचित और वैश्य-कुल मे पैदा होने वाले व्यक्ति मे ब्राह्मणोचित कर्म देखे जाते हैं। जाति को स्वाभाविक या ईश्वरकृत मानकर तात्त्विक कहा जाय, वह भी यौक्तिक नहीं। यदि यह वर्ण-व्यवस्था स्वाभाविक या ईश्वरकृत होती तो सिर्फ भारत मे ही क्यो ? क्या स्वभाव और ईश्वर भारत के ही लिए थे, या उनकी सत्ता भारत पर ही चलती थी ? हमे यह निर्विवाद मानना होगा कि यह भारत के समाज-शास्त्रियो की सूझ है—उनकी की हुई व्यवस्था है। समाज की चार प्रमुख जरूरते हैं—विद्यायुक्त सदाचार, रक्षा, व्यापार—आदान-और शिल्प। इनको सुव्यवस्थित और सुयोजित करने के लिए उन्होने चार

वर्ग बनाये और उनके कार्यानुरूप गुणात्मक नाम रख दिये—विद्यायुक्त सदाचार-प्रधान ब्राह्मण, रक्षा-प्रधान क्षत्रिय, व्यवसाय-प्रधान वैश्य और शिल्प-प्रधान शूद्र। ऐसी व्यवस्था अन्य देशो मे नियमित नहीं है, फिर भी कर्म के अनुसार जनता का वर्गीकरण किया जाय तो ये चार वर्ग सब जगह बन सकते हैं। यह व्यवस्था कैसी है, इस पर अधिक चर्चा न की जाय, तब भी इतना सा तो कहना ही होगा कि जहाँ यह जातिगत अधिकार के रूप मे कर्म को विकसित करने की योजना है, वहा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विनाश की भी—एक बालक बहुत ही अध्यवसायी और बुद्धिमान् हैं, फिर भी वह पढ नहीं सकता क्योंकि वह शूद्र जाति मे जन्मा है, शूद्रो को पढने का अधिकार नहीं है।[११०] यह इस समाज-व्यवस्था एवं तद्‌गत धारणा का महान् दोष है। इसे कोई भी विचारक अस्वीकार नहीं कर सकता। इस वर्ण-व्यवस्था के निर्माण मे सम्भवतः समाज की उन्नति एव विकास का ही ध्यान रहा होगा किन्तु आगे चलकर इसमे जो बुराइया आई, वे और ही इसका अंग-भंग कर देती हैं। एक वर्ग का अहंभाव, दूसरे वर्ग की हीनता, स्पृश्यता और अस्पृश्यता की भावना का जो विस्तार हुआ, उसका मूल कारण यही जन्मगत कर्म-व्यवस्था है। यदि कर्मगत जाति-व्यवस्था होती तो ये क्षुद्र धारणाएँ उत्पन्न नहीं होती। सामयिक क्रान्ति के फल-स्वरूप बहुत सारे शूद्र-कुल में उत्पन्न व्यक्ति विद्या-प्रधान, आचार-प्रधान बने। क्या वे सही अर्थ मे ब्राह्मण नही? बहुत सारे अशूद्र-कुल मे उत्पन्न व्यक्ति आचार-सम्पदा से शून्य हो गए। क्या वे सही अर्थ मे अन्त्यज नही? वर्णो के ये गुणात्मक नाम ही जातिवाद की अतात्विकता बतलाने के लिए काफी पुष्ट प्रमाण है।

कौनसी जाति ऊँची और कौनसी नीची—इसका भी एकान्त-दृष्टि से उत्तर नही दिया जा सकता। वास्तविक दृष्टि से देखें तो जिस जाति के बहु-सख्यको के आचार-विचार सुसस्कृत और सयम-प्रधान होते हैं, वही जाति श्रेष्ठ है[१२०]। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार जिस समय जैसी लौकिक धारणा होती है, वही उसका मान-दण्ड है। किन्तु इस दिशा मे दोनो की सगति नहीं होती। वास्तविक दृष्टि में जहाँ सयम की प्रधानता रहती है, वहाँ व्यवहार-दृष्टि मे अहंभाव या स्वार्थ की। वास्तविक दृष्टिवालो का इसके विरुद्ध सघर्ष चालू रहे—यही उसके आधार पर पनपने वाली बुराइयो का प्रतिकार है।

जैन और बौद्धों की क्रान्ति का ब्राह्मणो पर प्रभाव पड़ा—यह पहले बताया गया है। जैन आचार्य भी जातिवाद से सर्वथा अछूते नही रहे—यह एक तथ्य है, इसे हम

दृष्टि से ओझल नही कर सकते। आज भी जैनो पर जातिवाद का कुछ असर है। समय की माग है कि जैन इस विषय पर पुनर्विचार करे।

जाति और गोत्र-कर्म

गोत्र-कर्म के साथ जाति का सम्बन्ध जोड़कर कई जैन भी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि 'गोत्र-कर्म के ऊँच और नीच—ये दो भेद शास्त्रो मे वताये हैं'[१२१] तव जैन को जातिवाद का समर्थक क्यो कर नहीं माना जाय ? उनका तर्क गोत्र-कर्म के स्वरूप को न समझने का परिणाम है। गोत्र-कर्म न तो लोक-प्रचलित जातियो का पर्यायवाची शब्द है और न वह जन्मगत जाति से सम्बन्ध रखता है। हा, कर्म[१२२] (आचारपरपरा)-गत जाति से वह किञ्चित् सम्वन्धित है, उसी कारण यह विपय सन्दिग्ध वना हो अथवा राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तो मे कुलगत जाति को गोत कहा जाता है, उस नाम-साम्य से दोनो को—गोत और गोत्र-कर्म को एक समझ लिया हो। कुछ भी हो, यह धारणा ठीक नहीं है।

'गोत्र[१२३] शब्द' की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है। उनमे अधिकाश का तात्पर्य यह ह कि जिस कर्म के द्वारा जीव माननीय, पूजनीय एवं सत्कार-योग्य तथा अमाननीय, अपूजनीय एव असत्कारयोग्य वने, वह गोत्र-कर्म है। कहीं-कहीं उच्च-नीच कुल मे उत्पन्न होना भी गोत्र-कर्म का फल वताया गया है, किन्तु यहाँ उच्च-नीच कुल का अर्थ ब्राह्मण या शूद्र का कुल नहीं। जो प्रतिष्ठित माना जाता है, वह उच्च कुल है और जो प्रतिष्ठाहीन है, वह नीच कुल[१२४]। समृद्धि की अपेक्षा भी जैन-सूत्रो मे कुल के उच्च-नीच ये दो भेद वताये गये हैं[१२५]। पुरानी व्याख्याओ मे जो उच्च कुल के नाम गिनाये हैं, वे आज लुप्त प्राय हैं। इन तथ्यो को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि गोत्र-कर्म मनुष्य-कल्पित जाति का आभारी है—उस पर आश्रित है। यदि ऐसा माना जाय तो देव, नारक और तिर्यञ्चो के गोत्र-कर्म की क्या व्याख्या होगी उनमे यह जाति-भेद की कल्पना है ही नही। हम इतने दूर क्यो जाए—जिन देशो मे वर्ण-व्यवस्था या जन्मगत ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है, वहाँ गोत्र-कर्म की परिभाषा क्या होगी ? गोत्र-कर्म ससार के प्राणीमात्र के साथ लगा हुआ है। उसकी दृष्टि में भारतीय और अभारतीय का सम्वन्ध नहीं है। इस प्रसंग मे गोत्र-कर्म का फल क्या है, इसकी जानकारी अधिक उपयुक्त होगी।

जीवात्मा के पौद्गलिक सुख-दुःख के निमित्तभूत चार कर्म हैं—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य। इनमें से प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं—सातवेदनीय-असातवेदनीय, शुभनाम-अशुभनाम, उच्चगोत्र-नीचगोत्र, शुभआयु-अशुभआयु। मनचाहे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मिलना एव सुखद मन, वाणी और शरीर का प्राप्त होना सातवेदनीय का फल है। असातवेदनीय का फल ठीक इसके विपरीत है। सुखपूर्ण लम्बी आयु शुभ-आयु कर्म का फल है और अशुभ आयुकर्म का फल है—ओछी आयु तथा दुःखमय लम्बी आयु। शुभ और अशुभ नाम होना क्रमशः शुभ और अशुभ नाम-कर्म का फल है। जाति-विशिष्टता,[126] कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तप-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता और ऐश्वर्य-विशिष्टता—ये आठ उच्च गोत्र-कर्म के फल हैं। नीच-गोत्र-कर्म के फल ठीक इसके विपरीत हैं।

गोत्र-कर्म के फलो पर दृष्टि डालने से सहज पता लग जाता है कि गोत्र-कर्म व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है, किसी समूह से नहीं। एक व्यक्ति मे भी आठो प्रकृतिया 'उच्च गोत्र' की ही हो, या 'नीच-गोत्र' की ही हो, यह भी कोई नियम नही। एक व्यक्ति रूप और बल से रहित है, फिर भी अपने कर्म से सत्कार-योग्य और प्रतिष्ठा प्राप्त है तो मानना होगा कि वह जाति से उच्च-गोत्र-कर्म भोगरहा है और रूप तथा बल से नीच-गोत्र-कर्म। एक व्यक्ति के एक ही जीवन में जैसे न्यूनाधिक रूप मे सात वेदनीय और असात वेदनीय का उदय होता रहता है, वैसे ही उच्च नीच-गोत्र का भी। इस सारी स्थिति के अध्ययन के पश्चात् 'गोत्र-कर्म' और 'लोक-प्रचलित जातियां' सर्वथा पृथक् हैं, इसमे कोई सन्देह नहीं रहता।

अब हमें गोत्र-कर्म के फलो में गिनाये गये जाति और कुल पर दूसरी दृष्टि से विचार करना है। यद्यपि बहुलतया इन दोनो का अर्थ व्यवहार-सिद्ध जाति और कुल से जोडा गया है, फिर भी वस्तु-स्थिति को देखते हुए यह कहना पडता हे कि यह उनका वास्तविक अर्थ नहीं, केवल स्थूल दृष्टि से किया गया विचार या बोध सुलभता के लिये प्रस्तुत किया गया उदाहरण मात्र है।

फिर एक बार उसी बात को दुहराना होगा कि जाति-भेद सिर्फ मनुष्यो मे है और गोत्र-कर्म का सम्बन्ध प्राणी मात्र से है। इसलिए उसके फल-स्वरूप मे मिलने वाले जाति और कुल ऐसे होने चाहिए, जो प्राणी मात्र से सम्बन्ध रखे। इस दृष्टि से देखा जाय तो जाति का अर्थ होता है—उत्पत्ति-स्थान और कुल का अर्थ होता है—एक

योनि में उत्पन्न होनेवाले अनेक वर्ग[१२७]। ये (जातिया और कुल) उतने ही व्यापक हैं, जितना कि गोत्र-कर्म। एक मनुष्य का उत्पत्ति-स्थान बडा भारी स्वस्थ और पुष्ट होता है, दूसरे का बहुत रुग्ण और दुर्बल। इसका फलित यह होता है—जाति की अपेक्षा 'उच्च-गोत्र'—विशिष्ट जन्म-स्थान, जाति की अपेक्षा 'नीच-गोत्र'—निकृष्ट जन्मस्थान। जन्मस्थान का अर्थ होता हैं—मातृ-पक्ष या मातृस्थानीय पक्ष। कुल की भी यही वात है। सिर्फ इतना अन्तर है कि कुल मे पितृ-पक्ष की विशेषता होती है। जाति में उत्पत्ति स्थान की विशेषता होती हे और कुल मे उत्पादक अंश की[१२८]। 'जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति जातिः,[१२९]' 'मातृसमुत्था जातिः,[१३०]' 'जातिर्गुणवन्मातृकत्वम्[१३१]', 'कुल गुणवत्पितृकत्वम्[१३२]'—इनमें जाति और कुल की जो व्याख्याएं की हैं—वे सव जाति और कुल का सम्बन्ध उत्पत्ति से जोडती हैं।

धर्म और पुण्य

जैन दर्शन मे धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमासा मे ये कभी एक नही होते। धर्म आत्मा की राग-द्वेषहीन परिणति है—शुभ परिणाम है[१३३] और पुण्य शुभ कर्ममय पुद्गल है[१३४]। दूसरे शब्दो मे धर्म आत्मा की पर्याय है[१३५] और पुण्य अजीव (पुद्गल) की पर्याय है[१३६]। दूसरी वात—धर्म (निर्जरा रूप, यहाँ सवर की अपेक्षा नही है) सत् क्रिया है और पुण्य उसका फल है[१३७], कारण कि सत्प्रवृत्ति के विना पुण्य नही होता। तीसरी वात—धर्म आत्म-शुद्धि—आत्म-मुक्ति का साधन है[१३८] और पुण्य आत्मा के लिए बन्धन है[१३९]। अधर्म ओर पाप की भी यही स्थिति है। ये दोनो धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे—सत्प्रवृत्तिरूप धर्म के विना पुण्य की उत्पत्ति नही होती, वैसे ही अधर्म के विना पाप की भी उत्पत्ति नही होती[१४०]। पुण्य पाप फल हैं, जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उसके साथ चिपटने वाले पुद्गल हैं तथा ये दोनो धर्म और अधर्म के लक्षण हैं—गमक हैं[१४१]। लक्षण लक्ष्य के विना अकेला पैदा नही होता। जीव की क्रिया दो भागो मे विभक्त होती है—धर्म और अधर्म, सत् अथवा असत्[१४२]। अधर्म से आत्मा के सस्कार विकृत होते हैं, पाप का बन्ध होता है। धर्म से आत्म-शुद्धि होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का वन्ध होता है। इसलिए इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र नही हो सकती। पुण्य पाप कर्म का ग्रहण

होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय—परिणाम पर निर्भर है[143]। शुभयोग तपस्या-धर्म है। और वही शुभयोग पुण्य का आश्रव है[144]। अनुकम्पा, क्षमा, सराग-संयम, अल्प-आरम्भ, अल्प-परिग्रह, योग-ऋजुता आदि-आदि पुण्यबन्ध के हेतु हैं[145]। ये सत्प्रवृत्ति-रूप होने के कारण धर्म हैं।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने शुभभावयुक्त जीव को पुण्य और अशुभ-भावयुक्त जीव को पाप कहा है[146]। अहिंसा आदि व्रतों को पालन करना शुभोपयोग है। इसमें प्रवृत्त जीव के जो शुभ-कर्म का बन्ध होता है, वह पुण्य है। अभेदोपचार से पुण्य के कारणभूत शुभोपयोग-प्रवृत्त जीव को ही पुण्यरूप कहा गया है।

इसलिए अमुक प्रवृत्ति में धर्म या अधर्म नहीं होता, केवल पुण्य या पाप होता है—यह मानना संगत नहीं। कहीं-कहीं पुण्यहेतुक सत्प्रवृत्तियों को भी पुण्य कहा गया है[147]। यह कारण में कार्य का उपचार, विवक्षा की विचित्रता अथवा सापेक्ष (गौण-मुख्य-रूप) दृष्टिकोण है। तात्पर्य में जहाँ पुण्य है, वहाँ सत्प्रवृत्तिरूप धर्म अवश्य होता है। इसी बात को पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस रूप में समझाया है कि "अर्थ और काम—ये पुण्य के फल हैं। इनके लिये दौड़धूप मत करो। अधिक से अधिक धर्म का आचरण करो। क्योंकि उसके बिना ये भी मिलने वाले नहीं हैं[148]।" अधर्म का फल दुर्गति है। धर्म का मुख्य फल आत्म-शुद्धि—मोक्ष है। किन्तु मोक्ष न मिलने तक गौण फल के रूप में पुण्य का बन्ध भी होता रहता है और उससे अनिवार्यतया अर्थ, काम आदि-आदि पौद्गलिक सुख-साधनों की उपलब्धि भी होती रहती है[149]। इसीलिए यह प्रसिद्ध उक्ति है—'सुख हि जगतामेक काम्य धर्मेण लभ्यते।'

महाभारत के अन्त में भी यही लिखा है :—

"अरे भुजा उठा कर मैं चिल्ला रहा हूँ परन्तु कोई भी नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। तब तुम उसका आचरण क्यों नहीं करते हो[150] ?"

योगसूत्र के अनुसार भी पुण्य की उत्पत्ति धर्म के साथ ही होती है, यही फलित होता है। जैसे—"धर्म और अधर्म—ये क्लेशमूल हैं। इन मूलसहित क्लेशाशय का परिपाक होनेपर उनके तीन फल होते हैं—जाति, आयु और भोग। ये दो प्रकार के हैं—सुखद और दुःखद। जिनका हेतु पुण्य होता है—वे सुखद और जिनका हेतु

पाप होता है—वे दुःखद होते हैं[151] ।" इससे फलित यही होता है कि महर्षि पतञ्जलि ने भी पुण्य-पाप की स्वतन्त्र उत्पत्ति नही मानी है। जैन-विचारो के साथ उन्हे तोले तो कोई अन्तर नही आता।

तुलना के लिए देखें—
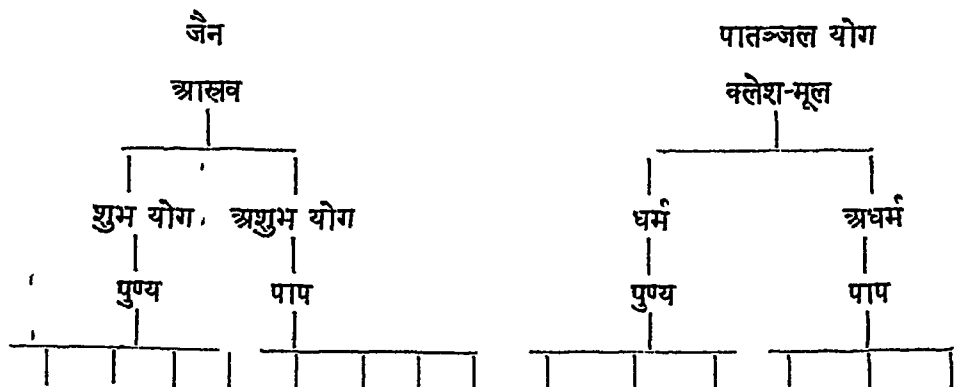
कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा प्रतिक्रमण—आत्मालोचन, प्रायश्चित्त को पुण्य-बन्ध का हेतु होने के कारण विष कहा है[154]। आचार्य भिक्षु ने कहा है—"पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है[155] ।" आगम कहते हैं—"इहलोक, परलोक, पूजा, श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म शुद्धि के लिए करो[156] ।" यही बात वेदान्त के आचार्यो ने कही है कि "मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म मे प्रवृत्त नही होना चाहिए[157] ।" क्योकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य ससार-भ्रमण के हेतु हैं। भगवान् महावीर ने कहा हैं—"पुण्य और पाप इन दोनो के क्षय से मुक्ति मिलती है[158] ।" "जीव शुभ और अशुभ कर्मो के द्वारा ससार मे परिभ्रमण करता है[159] ।" गीता भी यही कहती हे—"बुद्धिमान् सुकृत और दुष्कृत, दोनो को छोड देता है[160] ।" "आस्रव, संसार का हेतु है और सम्वर, मोक्ष का, जैनी दृष्टि का वस यही सार है[161] ।" अभयदेवसूरि ने स्थानाङ्ग की टीका मे 'आस्रव वन्ध, पुण्य और पाप' को संसार-भ्रमण के हेतु कहा है[162]। आचार्य भिक्षु ने इसे यो समझाया है कि "पुण्य से भोग मिलते हें, जो पुण्य की इच्छा करता है वह भोगो की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से ससार वढता है[163] ।"

इसका निगमन यो करना चाहिए कि अयोगी-अवस्था—पूर्ण समाधि-दशा से पूर्व के साथ पुण्य-वन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से

कोई भी सत्प्रवृत्ति नही करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए—मोक्ष—आत्म-विकास। भारतीय दर्शनो का वही चरम लक्ष्य है। लौकिक अभ्युदय धर्म का आनुषङ्गिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलने वाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य नही है। इसी सिद्धान्त को लेकर कई व्यक्ति भारतीय दर्शनो पर यह आक्षेप करते है कि उन्होने लौकिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा की, पर सही अर्थ मे बात यह नही है। ऊपर की पक्तियो का विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण का है, लौकिक वृत्तियो मे रहने वाले अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा कर ही कैसे सकते है। हा, फिर भी भारतीय एकान्त भौतिकता से वहुत वचे है। उन्होने प्रेय और श्रेय को एक नही माना[१६४]। अभ्युदय को ही सव् कुछ मानने वाले भौतिकवादियो ने युग को कितना जटिल वना दिया—इसे कौन अनुभव नही करता।

धर्म और लोक-धर्म

प्राचीन जैन, वौद्ध और वैदिक साहित्य मे धर्म शब्द अनेक अर्थो मे व्यवहृत हुआ है। इससे दो वाते हमारे सामने आती है, पहली धर्म शब्द की लोकप्रियता, दूसरी उसकी व्यापकता। जो कोई अच्छी वस्तु जान पडी, प्रिय लगी, उसीका नाम धर्म रक्खा गया। ऐसी मनोवृत्ति आज भी है। अथवा यो समझना चाहिए कि उसे अपनी व्यापक शक्ति के द्वारा अनेक अर्थो मे प्रयुक्त होने का अवसर मिला। कुछ भी हो, इससे सही अर्थ समझने मे वडी कठिनाई होती है। धर्म शब्द सस्कृत की 'धृ न् धारणे' धातु से वना है। कहा भी है—'धारणात् धर्म उच्यते'। वैदिक साहित्य मे प्रकृति, ईश्वर तथा सृष्टि के अखण्ड नियमो के लिए धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है[१६५]। ऋग्वेद मे पृथ्वी को 'धर्मणा धृता' कहा गया है।

साम्प्रदायिक मतवाद, गृहस्थ के रीति-रिवाज, समाज और राज्य के नियमो के लिए भी इसका प्रयोग होता है। इसके लिए गीतारहस्य के पृष्ठ ६४ से ६६ तक का विवेचन मननीय है[१६६]।

सामाजिक, राजनीतिक साहित्य मे अदालत के लिए धर्मासन, न्यायाधीश के लिए धर्मस्थ और धर्माध्यक्ष, न्यायप्रिय के लिए धार्मिक, वर्णाश्रम व्यवस्था को पालने के लिए धर्मी का प्रयोग होता था।

जैन सूत्रो मे 'मैथुन-धर्म'[१६७], 'ग्राम-धर्म'[१६८] (शब्दादि विषय), 'साधु-धर्म'[१६९], पाप-धर्म आदि प्रयोग भी मिलते है।

मनुस्मृति मे कहा गया है कि—"जाति-धर्म', जानपद-धर्म, श्रेणी-धर्म—वैश्य आदि के धर्म तथा कुल-धर्मो को देखकर धर्मात्मा राजा अपने धर्म की व्यवस्था करे [१७०]।" ये धर्म उन धर्मो से भिन्न है, जिनका स्वरूप[१७१] अध्याय ६-९२-९३ तथा १०-६३ मे वताया गया है[१७२]। यहाँ धर्म का अर्थ रीति-रिवाज है और वहाँ धर्म का अर्थ है परम-पद की प्राप्ति के साधन। दर्शन-शास्त्र मे "जो जिसका स्वभाव है, वह उसका धर्म है[१७३]।" "सहभावी पर्याय का नाम धर्म है[१७४]।" "धर्म और धर्मी मे अत्यन्त भेद नही होता[१७५]।" इस प्रकार स्वभाव और पर्याय के अर्थ मे वह प्रयुज्यमान है। मोक्ष—आत्मशुद्धि के साधनभूत अहिसा आदि चारित्र्य को तो धर्म कहा ही जाता है[१७६]। इस प्रकार अनेक अर्थो मे प्रयुक्त होने के कारण धर्म-शब्द इतना जटिल वन गया है कि कहा किस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है—यह निर्णय करना सुलभ नही रहा। इसीलिए धार्मिको मे वडी भारी खीचातान चलती है।

यह समस्या कैसे सुलझ सकती है—इस पर भी हमे कुछ विचार करना चाहिए। धर्म का व्यवहार जिन अनेक अर्थो मे हुआ है, उन सवका वर्गीकरण किया जाय, तो दो अर्थ वनते हैं—लोक—ससार और मोक्ष। जो आत्म-विकास का साधन है, वह मोक्षधर्म—आत्मधर्म है और शेष जितने धर्म हैं, वे सव लोक-धर्म—व्यावहारिक धर्म है। गम्य-धर्म, पशु-धर्म, देश-धर्म, राज्य-धर्म, पुरवर-धर्म, ग्राम-धर्म, गण-धर्म, गोष्ठी-धर्म, राज-धर्म आदि-आदि लौकिक धर्म है[१७७]। कुप्रावचनिक धर्म को भी आचार्यो ने लौकिक धर्म के समान ही कहा है। आरम्भ और परिग्रहयुक्त धर्म कुप्रावचनिक है[१७८]। इन दोनो प्रकार के लौकिक और कुप्रावचनिक धर्मो की अरिहन्त अथवा बुद्धिमान् पुरुष प्रशसा नही करते। कारण कि ये दोनो सावद्य हैं—अशुभ कर्म-वन्धन युक्त है। (१) लोकोत्तर धर्म वह है, जो मोक्ष का—आत्मशुद्धि का साधन हो। मोक्ष के साधन कई प्रकार के वर्णित किये गये है—(२) सम्वर, निर्जरा अथवा श्रुत और चारित्र, (४) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, (५) अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, (१०) शान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, सयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य।

दोनो प्रकार के धर्म प्राणीवर्ग के आश्रित रहते है। फिर भी उनका भेद समझने के लिए आचार्य श्री तुलसी ने कसौटी के रूप मे तीन वाते रखी है[१७९]—

१—आत्मशुद्धि-हेतुकता, २—अपरिवर्तनीय-स्वरूपता,

३—सर्वसाधारणता।

ये (तीन बातें) जिसमें हों, वह मोक्ष-धर्म है और जिसमें यह न मिले—वह लोक धर्म है। अहिंसा आदि आत्म-कल्याण के लिए है[१८०] और समाजनीति, राजनीति आदि लोक-व्यवस्था के लिए।

अहिंसा आदि का स्वरूप अपरिवर्तनीय है[१८१] और समाज-नीति, राज-नीति का स्वरूप परिवर्तनीय। लोकमान्य तिलक ने इस पर बड़ा मार्मिक विवेचन किया है—"ज्यों-ज्यों समय बदलता जाता है त्यों-त्यों व्यावहारिक धर्म में भी परिवर्तन होता जाता है।· · युगमान के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं[१८२]।" महाभारत १२२-७६ में यह कथा है कि प्राचीनकाल में स्त्रियों के लिए विवाह की मर्यादा नहीं थी। वे इस विषय में स्वतन्त्र और अनावृत थीं। परन्तु जब इस आचरण का बुरा परिणाम दीख पड़ा, तब श्वेतकेतु ने विवाह की मर्यादा स्थापित कर दी और मदिरा-पान का निषेध भी पहले-पहल शुक्राचार्य ने ही किया। तात्पर्य यह है कि जिस समय ये नियम जारी नहीं थे, उस समय के धर्म, अधर्म का तथा उसके बाद के धर्म, अधर्म का निर्णय भिन्न-भिन्न रीति से किया जाना चाहिये। इसी तरह यदि वर्तमान समय का प्रचलित धर्म आगे बदल जाय तो उसके साथ भविष्यकाल के धर्म, अधर्म का विवेचन भी भिन्न रीति से किया जायगा। काल-मान के अनुसार देशाचार, कुलाचार और जाति-धर्म का भी विचार करना पड़ता है। क्योंकि आचार ही सब धर्मों की जड़ है। तथापि आचारों में भी बहुत भिन्नता हुआ करती है। पितामह भीष्म कहते हैं—"ऐसा आचार नहीं मिलता जो हमेशा सब लोगों का हितकारक हो। यदि किसी एक आचार को स्वीकार किया जाय तो दूसरा उससे बढ़कर मिलता है। यदि इस दूसरे को स्वीकार किया जाय तो वह किसी तीसरे आचार का विरोध करता है[१८३]। जब आचारों में ऐसी भिन्नता हो जाय तब भीष्म पितामह के कथन के अनुसार तारतम्य अथवा सार-असार-दृष्टि से विचार करना चाहिए।

महात्मा टालस्टाय ने भी कहा है—"समाज के जीवन के आदर्श, जिनके अनुसार मनुष्यों के सारे काम-काज होते हैं, बदलते रहते हैं और उन्हीं के साथ-साथ मानव-जीवन का व्यवस्था-कर्म भी बदलता रहता है[१८४]।"

अहिंसा आदि सर्व-साधारण है—सब जगह सबके लिए समान है—एक है। समाजनीति, राजनीति सब जगह सबके लिए समान नहीं होती है। तात्पर्य यह है

कि मोक्ष-धर्म (अहिंसा आदि) सदा, सब जगह, सबके लिए एक है और लोक-धर्म का स्वरूप इसके विपरीत है।

अहिंसा और दया-दान

'अहिंसा ही आत्म-धर्म है' यह कहना न तो अत्युक्ति है और न अर्थवाद। आचार्यों ने बताया है कि "सत्य आदि जितने व्रत हैं, वे सब अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं[१८५]।" काव्य की भाषा में "अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाली बाड़े हैं[१८६]।" "अहिंसा जल है, सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु हैं[१८७]।" सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा के ही पहलू हैं।

मोक्ष-धर्म की कोटि में वे ही व्रत आते हैं, जो अहिंसा की कसौटी पर खरे उतरते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दया और दान (उपकार इन्हीं के अन्तर्गत है)—ये दोनों इसी कसौटी पर परखे गये हैं। धर्म-शब्द की भांति दया-दान शब्द भी बड़े व्यापक हो चले हैं पर आध्यात्मिक दया-दान वे ही हैं, जो अहिंसा के पोषक हों—अहिंसामय हों। तत्त्व-दृष्टि से देखा जाय तो अहिंसा, दया और दान—ये तीनों एकार्थक शब्द हैं। अथवा यों कहिये कि तात्पर्यार्थ में तीनों एक हैं। इस विचार की पुष्टि के लिए जैन और जैनेतर साहित्य का अभिप्राय जानना आवश्यक है। भगवान् महावीर ने कहा है—"प्राणी मात्र के प्रति संयम रखना अहिंसा है[१८८]।" महात्मा बुद्ध ने कहा है—"त्रस और स्थावर सबकी घात न करना अहिंसा है, वही आर्यता है[१८९]।" व्यास ने कहा है—"सब प्रकार से सदा सब जीवों का अकुशल न करना अहिंसा है[१९०]।" गीता में कहा है—"प्राणी मात्र को कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है[१९१]।" महात्मा गांधी ने लिखा है—"अहिंसा के माने सूक्ष्म वस्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव[१९२]।" सभी व्याख्याकारों का सार यह है—असंयम, विषम भाव, अभिद्रोह और क्लेश हिंसा है, संयम, समभाव, अनभिद्रोह और अक्लेश अहिंसा है। हिंसा आत्म-मालिन्य का साधन है, इसलिए वह संसार है और अहिंसा आत्म-शुद्धि का साधन है, इसलिए वह मोक्ष है।

शाब्दिक मीमांसा करें तो अहिंसा निषेधात्मक है, किन्तु तात्पर्यार्थ में वह उभय-रूप है—विधिनिषेधात्मक है। बुराइयों से बचाव करना—असत्प्रवृत्ति न करना—यह निषेध है। स्वाध्याय, ध्यान, उपदेश, बुराइयों से बचने की प्रेरणा देना, मानसिक,

वाचिक, कायिक सत्प्रवृत्तिया, प्राणी मात्र के साथ वन्धुत्व-भावना, आत्म-शुद्धि का सहयोग या सेवा आदि का आचरण करना यह विधि है। शाब्दिक अपेक्षा से विधि रूप अहिंसा को दया तथा कई प्रवृत्तियों को दान भी और निषेधरूप अहिंसा को अहिंसा कहा जाता है। वहुधा पूछा जाता है—किसी मरते को बचाना, दीन-दुःखी की सहायता करना धर्म है या नही? इसका थोड़े मे उत्तर यह है कि जिन प्रवृत्तियो मे बचाना, सहायता करना आदि-आदि कुछ भी हो, सूक्ष्म हिंसा तक का अनुमोदन न हो, राग-द्वेष की परिणति न हो, एक शब्द मे—यह प्रवृत्तिया अहिंसात्मक हों तो वे धर्म हैं, नही तो नहीं। अहिंसा को बचाने से, रक्षा से, सहयोग से विरोध नहीं, उसका विरोध हिंसा से, राग द्वेषात्मक परिणति से है। उसका जीवन या मृत्यु से सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध अपनी सत्प्रवृत्तियो से है।

अहिंसा और दया की एकता

प्रश्न व्याकरण-सूत्र मे अहिंसा को दया कहा है[१०३]। इसका टीकाकार ने अर्थ किया है—'देहि-रक्षा' यानी जीवो की रक्षा। इसी प्रकरण मे आगे कहा गया है—साधु त्रस-स्थावर सब जीवो की दया के लिए, अहिंसा के लिए (हिंसा टालने के लिए) ऐसा आहार ले, जिसमे उसके निमित्त किसी प्रकार की हिंसा न हुई हो।

धर्म-सग्रह मे लिखा है—"अनुकम्पा, कृपा और दया ये सब एकार्थक हैं[१०४]।" धर्म-रत्नप्रकरण मे बताया है कि "धर्म का मूल दया है और सब अनुष्ठान उसके अनुचारी है[१०५]।" दया क्या है, इसकी व्याख्या मे आचाराग-सूत्र का उद्धरण देते हुए कहा है—"प्राणी मात्र की हिंसा न करना—यही दया एव प्राणी-रक्षा है क्योकि सब धर्मों में अहिंसा ही मुख्य हैं।" दशवैकालिक-सूत्र में कहा है—"जिसका चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोना, खाना-पीना, बोलना आदि अहिंसात्मक है, उसके पाप कर्म का वन्ध नहीं होता।" • • दयालु कौन है? इसके उत्तर से धर्म-प्रकरण ग्रन्थ मे लिखा है—"स्वल्प हिंसा का भी विपाक वडा दारुण होता है—यह जानकर जो जीव-वध मे प्रवृत्त नहीं होता, वही दयालु है।"

उद्धरण यद्यपि लम्बा हो चुका है फिर भी इसमे अहिंसा और दया की एकता का प्रतिपादन वडा सुन्दर और मार्मिक हुआ है। इसलिए इसका लोभ-संवरण नहीं किया जा सका। स्मृतिकारो के शब्दो मे भी दोनो का ऐक्य है—"जैसे निज को

अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही दूसरो को भी अपने प्राण प्रिय हैं, इसलिए अपने और पराये सुख-दुःख को समान समझ कर प्राणी मात्र की दया करनी चाहिए[१०६]।" इसी बात को आचार्य हेमचन्द्र दूसरे शब्दो मे कहते हैं—"ज्यो निज को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, ठीक त्यो ही दूसरो को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है—यह समझकर विवेकी मनुष्य किसी की भी हिंसा न करे[१९७]।" स्मृतिकार के शब्दों में जो तत्त्व 'दया कुर्वीत' इस वाक्याश मे प्रकट हुआ है, वही तत्त्व आचार्य हेमचन्द्र के शब्दो मे 'हिंसा नाचरेत्' इस वाक्यांश द्वारा प्रकट होता है।

भगवान् महावीर की दृष्टि मे मोक्ष-मार्ग के निरूपण मे अहिंसा-वर्जित दया के लिए कोई स्थान ही नहीं था और दूसरी ओर देखा जाय तो अहिसा मे पूर्व, पश्चिम और मध्य मे—सब जगह दया ही दया भरी पडी है। हिंसा न करने का आधार है—स्व और पर का अनिष्ट, स्व का अनिष्ट—आत्मा का पतन और पर का अनिष्ट—प्राण-वियोग। अहिंसा मे दोनो की दया एव रक्षा है, स्व दया—अपना पतन नहीं होता और पर दया—पर का प्राण-वियोग नहीं होता। कुछ गहराई मे जायं तो हिंसा इसलिए वर्जनीय है कि उससे अपनी आत्मा का पतन होता है और अहिसा इसलिए आदरणीय है कि उससे अपनी आत्मा का कल्याण होता है। जैन-दृष्टि के अनुसार यह भाव-हिंसा और भाव-अहिंसा का स्वरूप है।

अपनी राग-द्वेषयुक्त असंयममय प्रवृत्तियो से दूसरो को सुख मिल जाए, उससे कोई व्यक्ति अहिसक नहीं बनता और अपनी राग-द्वेष-मुक्त सयममय प्रवृत्तियो से किसी को कष्ट भी हो जाए, तो उससे कोई व्यक्ति हिंसक नही बनता। इसलिए मोक्ष-मार्ग की मीमासा मे दया वही है, जो अहिंसा के साथ-साथ चले अथवा अहिसात्मक होकर बाहर निकल आये। इसीलिए कहा है—"जो अहिसा है, वह अनुकम्पा है[१९८]।" "मुनि प्राणी मात्र की दया पालने के लिए आहार करे[१९९]।" जो मुनि अपने धर्म का पालन नहीं करता, वह छह काय का हिसक है। इसको शास्त्रकारो ने 'छह काय निरणुकपा[२००]'—इस वाक्य से कहा है। यहाँ अनुकम्पा और अहिंसा की पूर्ण एकता है। कारण कि मुनि-धर्म सर्वथा अहिसात्मक होता है। "मुनि भूत मात्र पर दया करता हुआ बैठा रहे और सोए[२०१]।" भगवती-सूत्र मे अनुकम्पा का विस्तार करते हुए जो कहा है—"प्राणीमात्र को दुःख न देना, शोक उत्पन्न न करना, न ।।, अश्रुपात न करवाना, ताड़ना-तर्जना न देना[२०२]" उससे दया की

—

अहिंसात्मकता स्वयं सिद्ध होती है। "दया, सयम, लज्जा, जुगुप्सा, अछलना, तितिक्षा, अहिंसा और ह्री—ये सब एकार्थक हैं[२०३]।" "धर्म का मूल अहिंसा है क्योंकि वह दयामय-प्रवृत्तिरूप होता है[२०४]।" इसमे भी अहिंसा और दया की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है।

अहिंसा और दान की एकता

"सब दानो मे अभय-दान श्रेष्ठ है[२०५]।" गदर्भाली मुनि संयति राजा से कहते हैं—"राजन्। तुझे अभय है। तू भी जीवो को अभय दे—उनकी हिंसा मत कर[२०६]।" आचार्य भिक्षु ने अभय-दान की व्याख्या करते हुए बताया है कि "मनसा-वाचा-*कर्मणा, कृत-कारित-अनुमति से छह काय के जीवो को भय न उपजाना*, यह अभय-दान है और इसी का नाम दया है[२०७]।" पद्मपुराण के गो-व्याघ्र-सवाद में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। "गाय कहती है—भाई बाघ! विद्वान् सत्युग में तप की प्रशसा करते हैं, त्रेता मे ज्ञान और कर्म की, द्वापर मे यज्ञ की परन्तु कलियुग में एकमात्र दान ही श्रेष्ठ माना जाता है। सम्पूर्ण दानो मे एक ही दान सर्वोत्तम है, वह है सम्पूर्ण भूतो को अभय-दान। इससे बढकर कोई दूसरा दान नहीं है। जो समस्त चराचर प्राणियो को अभय-दान देता है वह सर्व प्रकार के भय से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। अहिंसा के समान न कोई दान है, न कोई तपस्या। जैसे हाथी के पद-चिह्न मे अन्य सब प्राणियो के पद-चिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार सभी धर्म अहिंसा से प्राप्त हो जाते हैं[२०८]।"

"अभय दान के समान दूसरा कोई परोपकार नही। गृहस्थपन में वह पूर्ण नहीं हो सकता[२०९]।" इसका तात्पर्य यह है कि प्राणी मात्र को अभय वही दे सकता है, जो स्वय पूर्ण अहिंसक हो। मुनि पूर्ण अहिंसा के पथ पर चलते हैं, इसलिए वे सदा सब को अभय किये रहते हैं। गृहस्थ यथाशक्ति अहिंसा का पालन करता है, इसलिए उसमें अभय-दान की पूर्णता नही आती।

"अहिंसक ही स्वतः और परतः दोनो प्रकार से अभयकर हो सकता है। स्वयं हिंसा से निवृत्त होता है, इसलिए स्वतः और दूसरो को 'हिंसा न करो' ऐसा उपदेश देकर प्राणी मात्र पर अनुकम्पा करता है, इसलिए परतः[२१०]।" अभय-दान के अतिरिक्त दो दान और हैं—ज्ञान-दान तथा धर्मोपग्रह-दान—ये भी अहिंसात्मक ही

हैं। जिससे आत्म-विकास हो, वह ज्ञान मोक्ष का मार्ग है—प्रकाशकर है। उसका वितरण आत्म-शुद्धि का हेतु होने के कारण अहिंसा ही है। अब रहा धर्मोपग्रह-दान। वह भी सयम-पोषक होने के कारण अहिंसा है। "सब आरम्भ से निवृत्त संयमी को निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि देना धर्मोपग्रह-दान है"[११]।" इसमें दाता का आत्म-संवरण और ग्राहक का सयम-पोषण होता है। इसलिए यह संयम-मूलक प्रवृत्ति है। जहाँ सयम है, वहाँ अहिसा का नियम है। अब बाकी रहे व्यावहारिक दान—उनसे अहिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं। वही दान और अहिंसा एक है, जो वास्तव में त्याग हो, सयममय हो अथवा सयम-पोषक हो। कारण कि यह मोक्ष-मार्ग के तत्त्वों का प्रस्ताव है। व्यावहारिक दान में अहिंसा (दया) का पालन नहीं होता, इसलिए वह 'त्यागमय' दान नहीं किन्तु 'भोगमय' दान है। मोक्ष-मार्ग मे दान वह होना चाहिए; जिसके पीछे भूत मात्र को अभय देने वाली दया हो। तीर्थङ्करो को 'अभयदये'[१२]' इसीलिए कहा है कि उनकी दया में प्राणी मात्र को अभय होता है। आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"हिंसा और असयम के पोषक दान से दया उठ जाती है और हिंसायुक्त दया से अभय-दान उठ जाता है। इसलिए हिंसा-युक्त दान और हिंसा-युक्त दया—यह दोनों सामाजिक तत्त्व है।" इनका अहिंसा के साथ मेल नहीं बैठता। आचाराग-सूत्र के टीकाकार शीलाकाचार्य ने भी यही बात कही है—"समाज-शास्त्रियों के मतानुसार पानी देने वाला तृप्ति, अन्न देने वाला अक्षय सुख, तिल देने वाला इष्ट सन्तान और अभय देने वाला आयुष्य प्राप्त करता है। तुष में धान के कण की तरह इनमे एक अभय-दान ही सुभाषित है। बाकी का कुमार्ग है। उसका उपदेश देने वाले लोगो को हिंसा मे प्रवृत्त करते हैं।" त्रिकरण-त्रियोग से हिंसा न करना—यही अहिसा है, यही दया है और यही अभय-दान है। ये ही दया और दान तीर्थङ्करो द्वारा अनुमोदित और ये ही मोक्ष के मार्ग हैं।

लौकिक और लोकोत्तर

धार्मिकों के दो प्रमुख तत्त्व मैत्री—अहिंसा और त्याग—अपरिग्रह जनता के सामने आये, उनकी महिमा बढी। तब सामाजिक क्षेत्र मे भी उनका अनुकरण हुआ, उनके स्थान पर दया और दान—इन दो तत्त्वो की सृष्टि हुई। परसुखाशंसा और तदर्थ प्रयत्न

करना दया और परार्थ उदारता एव अनुग्रह करना दान है—ये परिभाषाएं बनीं। धार्मिको के तत्त्व—मैत्री और त्याग का लक्ष्य था—आत्म-शुद्धि और मानदंड था—परमार्थ—मोक्ष-साधकता, अहिसा और निर्ममत्व। सामाजिक तत्त्व दया और दान का लक्ष्य था—समाज व्यवस्था और मानदंड था परार्थ—दूसरो के लिए। इसीलिए आगे चलकर धर्माचार्यों ने इनसे धार्मिक तत्त्वो का पार्थक्य दिखाने के लिए इनके दो-दो भेद किए—लौकिक और लोकोत्तर। इसका तात्पर्य यह न ले कि धार्मिक क्षेत्र मे दया और दान शब्द प्रयोग मे ही नहीं आये थे। इन दोनो का अस्तित्व था, किन्तु था अहिसा और त्याग के रूप मे ही।

समाज मे ज्यो-ज्यो सग्रह की भावना वढती गई, त्यो-त्यो समाज-शास्त्री दान को धर्म वताकर इसकी महिमा वताते गए। उपनिषद् में एक घटना का वर्णन है कि "देव, मनुष्य और असुर—इन तीनो ने प्रजापति से उपदेश चाहा। तव प्रजापति ने उन्हे उपदेश देते हुए तीन दकार ('द' 'द' 'द') कहे। भोग-प्रधान देवो से कहा—दमन करो, सग्रह प्रधान मनुष्यो से कहा—दान करो, हिसा-प्रधान असुरो से कहा—दया करो[२१३]।" इसको हम सामाजिक सत्य के रूप मे स्वीकार करे तो यह साफ प्रतीत होता है कि दान पुराने समाज-शास्त्रियो की सग्रह-रोग के प्रतिकार मे प्रयुक्त चिकित्सा विधि है। उन्होने दान-धर्म की निरूपणा के द्वारा संग्रह का अन्त करना चाहा, परन्तु इसका परिणाम उल्टा हुआ। लोगो मे सग्रह-वृत्ति रुकने की अपेक्षा लाखो करोड़ो का संग्रह कर थोड़े से दान से शुद्ध हो जाने की भावना उग्र हो गई। परिणाम यह हुआ कि दान-धर्म के नाम पर गरीवो का शोषण और उत्पीड़न वढ चला। तव धर्माचार्यो ने इसके विरोध मे क्रान्ति का शख फूका—इसलिए फूका कि धर्म के नाम पर समाज की विडम्वना हो रही थी। उन्होने कहा—"जो निर्धन पुण्य कमाने के लिए, दान करने के लिए धन का सग्रह करता है, वह 'स्नान कर लूगा' ऐसा ख्याल कर अपना शरीर कीचड से लथेडता है[२१४]।"—"न्यायोपार्जित धन से सम्पत्ति नही वढती। स्वच्छ पानी से क्या कभी नदिया भरती हैं[२१५]?" समाज-शास्त्रियों की भी आखे खुलीं। उन्होने अपनी लेखनी की गति भी वदली। पर वे समाज की स्थिति न वदल सके। असहाय, अनाथ, अपाङ्ग आदि विशेष स्थिति वालो के सिवाय दूसरो को दान देने का निषेध किया जाने लगा—पाप वताया जाने लगा। फिर भी थोड़े से दान से धार्मिक वनने वाले पूजीपतियो और बिना

श्रम रोटी पाने वाले भिखमंगो की भावना बदली नहीं। प्राग्-ऐतिहासिक युग का वर्णन करते हुए कवियो ने लिखा है कि यहाँ भारत मे एक भी भिक्षुक नही था[२१६]। आज यहाँ भिखमंगो की एक वडी फौज है। यह किसका परिणाम है, थोड़ी गहराई मे जायं तो इसे समझने मे कठिनाई नही होगी।

आज का जाग्रत समाज और उसके निर्माता इन असमानता की वहुत सी खाइयो को पाट चुके है और रही-सही का भाग्य-निर्णय होने वाला है। दया और दान के नाम पर असहाय वर्ग के अपकर्ष और हीनता का समर्थन तथा सहायक वर्ग के उत्कर्ष और अहंभाव का पोषण आज सहा नही जा सकता। परिस्थिति के कुचक्र से वडे-से वड़ा व्यक्ति या वर्ग असहाय हो सकता है, वह अपने सामाजिक भाइयो से सहायता की भी अपेक्षा रख सकता है, पर वह दया और धर्म के नाम पर उनसे सहायता नहीं चाहता है, वह चाहता है सौहार्द और भ्रातृत्व के नाते। इस दया और दान के नाम पर प्रबुद्ध धनी-वर्ग ने अपने अशिक्षित और असहाय भाइयों के साथ जितना सामाजिक अन्याय किया है, स्यात् उतना दूसरे नाम पर न तो किया है और न कभी हो भी सकता। खैर, जो कुछ हुआ हो—आज अपने सामाजिक सहयोगियो को हीन-दीन समझ कर उनकी सहायता के द्वारा धर्म—पुण्य कमाने की भावना टूटती जा रही है। आज उनकी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न हो रहा है और सम्मान के साथ उनकी व्यवस्था का समाजीकरण हो रहा है। वहुत से देशो मे असहायो की व्यवस्था सरकार करती है। यहाँ भारत मे भी भिक्षा-निरोधक विधि आदि नियम वना कर जनता के समर्थन-पूर्वक सरकारे भिखमंगो की फौज तितर-वितर कर रही हैं। किन्तु फिर भी प्राचीन व्यवस्था के अनुसार दया-दान की द्विविधता का जो प्रतिपादन हुआ, उस पर भी सरसरी दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

दया के दो भेद

दया दो प्रकार की है—लौकिक और लोकोत्तर। लोकोत्तर दया और अहिंसा एक है, यह पहले वताया जा चुका है। अव लौकिक दया के वारे मे कुछ विचार करना है। यद्यपि तत्त्वतः दया के ये दो भेद नहीं होते, फिर भी शब्द की समानता से ऐसा हुआ है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा है—

"भोले ही मत भूलज्यो, अणुकम्पारे नाम।
कीज्यो अन्तर-पारखा, ज्यू सीझै आतम काम ॥
गाय भैंस आक थोहरनो, ये चारो ही दुद्ध।
ज्यों अनुकम्पा जाण ज्यो, मनमें आणी शुद्ध[२१७] ॥"

लौकिक दया का मुख्य आधार है—समाज व्यवस्था एव दुःखित व्यक्तियों पर अनुग्रह। उसमे हिसा-अहिसा का विचार नही किया जाता। इसीलिए वह लोकोत्तर दया से, दूसरे शब्दो मे अहिसा से पृथक् है। लौकिक दया को विशुद्ध अहिसा न मानने के कारण जैन आचार्यो को काफी सघर्ष का सामना करना पडा। फिर भी वे अपनी तात्त्विक व्याख्या से पीछे नहीं हटे। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है—"भगवती अहिसा त्रस और स्थावर सभी जीवों का कल्याण करने वाली है[२१८]।" इसकी टीका करते हुए अभयदेवसूरि लिखते हे—"जो सर्वभूतक्षेमङ्करी है वही अहिसा है, दूसरी नहीं। लौकिक जिसे अहिसा कहते हे, जैसे—'एक गऊ की प्यास बुझती है, उससे सात कुलो का निस्तार हो जाता है, इसलिए जलाशय बनाने चाहिये'—यह गो-विषयक दया उनके मत मे (लौकिको के मत मे) अहिसा है। किन्तु उसमे पृथ्वी, पानी तथा बहुत प्राणियो की हिसा होती है, इसीलिए वह सम्यक् अहिसा नही है[२१९]।" इसी प्रकार आचाराग सूत्र के विभिन्न स्थलों मे प्रसिद्ध टीकाकार शीलाङ्काचार्य ने हिसायुक्त लौकिक दया को विशुद्ध अहिसा मानने का विरोध किया है[२२०]। उनकी स्पष्टोक्ति एव विचार-व्यञ्जना मे अत्यन्त ओज और निर्भीकता है—"कोई उनसे पूछता है, इस प्रकार तो समस्त लोक-प्रसिद्ध गो दान आदि का व्यवहार टूट जायगा? उत्तर मे कहा है—भले ही ऐसे बन्धनो के हेतुभूत व्यवहार टूट जाए। परमार्थ-चिन्ता मे व्यवहार नही देखा जाता, वहाँ तो यथार्थ-निरूपण होता है[२२१]।" इस प्रतिपादन मे उन्हे आगम का समर्थन प्राप्त था। जैन शास्त्रो मे द्वादशागी का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमे जगह २ पर धर्मार्थ हिसा का बहुमुखी विरोध किया गया है। "जो मन्द बुद्धि धर्म के लिए हिंसा करता है, वह अपने लिए महा भय पैदा करता है[२२२]।" "दूसरे के द्रव्य मे जो अविरत है, वह सुखी नही बनता[२२३]।" "धर्म के लिए जीव-वध करने मे दोष नही—यह अनार्य वचन है[२२४]।" "धर्म के लिए हिसा नही करनी चाहिए—यह आर्य-वचन है[२२५]।" "जो सुख चाहने वाले व्यक्ति इस क्षणिक जीवन के परिवन्दन-मानन-पूजन के लिए, जन्म-

मरण से मुक्त होने के लिए, दुःख से छूटने के लिए छह काय की हिसा करते हैं—आरम्भ-समारम्भ करते हैं, वह उनके अहित और अवोधि के लिए होता है[२२६]।" "दूसरो को सुख देने से सुख होता है—यह कहने वाले आर्य-धर्म और समाधि मार्ग से दूर है[२२७]।" उक्त विचारो का अवलोकन करने से यह अपने आप उत्तर आता है कि भगवान् महावीर के समय मे दया-दान मात्र को धर्म वताने वाली विचार-परपराए थी। उनपर आचाराग, सूत्रकृताग और प्रश्नव्याकरण मे सूक्ष्म और गम्भीर विचार किया गया है। उस समूची विचार धारा का सार हमे सूत्रकृताग की निम्नवर्ती दो गाथाओ मे मिल जाता है[२२८]:—

इह मेगे उ भासति, सात सातेण विज्जति।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परम च समाहिय॥
मा एय अवमन्नता, अप्पेणं लुपहा वहु।
एतस्स अमोक्खाय, अय हारिव्व भूरइ॥

पहली गाथा के पूर्वार्ध मे पूर्व पक्ष का निरूपण है। उसकी मान्यता है—"सव जीव सुख के इच्छुक हैं, दुःख नहीं चाहते, इसलिए सुखार्थी पुरुष को स्वय को, दूसरो को, सभी को सुख देना चाहिए। सुख देने वाला ही सुख पाता है[२२९]।" उत्तर-पक्ष मे भगवान् महावीर के विचारो का निरूपण करते हुए सूत्रकार लिखते हैं कि "मोक्ष-मार्ग का विचार करते समय 'सुख देने से सुख होता है—यह सिद्धान्त युक्ति के प्रतिकूल होता है। कारण कि सासारिक प्राणियो मे अनेक प्रकार के इष्ट सुखो की आकाक्षा होती है, उसकी पूर्ति का मोक्ष मार्ग से सम्वन्ध नही जुडता। मोक्ष-मार्ग मे स्वेच्छापूर्वक यथा शक्ति तपस्याजन्य कष्ट के लिए भी पर्याप्त स्थान है। 'सुख देने से ही सुख मिलता है', यह सिद्धान्त व्यावहारिक या सामाजिक हो सकता है, आध्यात्मिक नही। इस पर भी आप (पूर्व पक्ष के समर्थक) जैनेन्द्र-प्रवचन की अवमानना करना चाहे तो आप जाने, पर इससे आप भी आत्म-साधना का मार्ग नही पा सकते।" इन विचारो का मनन करने के वाद सहज ही इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि मोक्ष-मार्ग मे अहिसा का विचार होता है, भौतिक सुख-सुविधाओं का नही।

दु खत्रयाभिघात के लिए प्रवृत्त साख्यो ने भी ठीक इसी प्रकार याज्ञिक पक्ष का [illegible] किया है। यज्ञ में पशु-वध करने वालो का पक्ष यह था कि हिंसनीय का

अनुग्रह-रहित प्राण-वियोजन किया जाता है, वह हिंसा है, किन्तु अनुग्रह-पूर्वक प्राण-वियोजन करना हिंसा नहीं है। यज्ञ मे बलि हुए पशु को स्वर्ग मिलता है—ऐसा शास्त्रीय विधान है, इसलिए यज्ञ मे उनकी बलि करना हिंसा नही प्रत्युत धर्म है[३०]। 'परानुग्रहकरो व्यापारो धर्मः', 'परपीडाकरो व्यापारोऽधर्मः'—दूसरो पर अनुग्रह करना—यह धर्म का लक्षण है। यज्ञ के द्वारा यज्ञकर्ता और हिंसनीय पशु दोनो को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसका प्रतिवाद करते हुए साख्य-आचार्यो ने लिखा है कि "यदि दूसरो का अनुग्रह धर्म और कष्ट अधर्म है—यही धर्म-अधर्म का अभिवचन हे तव तो तपस्या, जाप, स्वाध्याय आदि से दूसरो का अनुग्रह नहीं होता—दूसरो को तपस्या की प्रेरणा देते हैं, वे करते हैं, उससे उन्हे कष्ट भी होता है। उसमे परानुग्रह नहीं है, इसलिए वह अधर्म होगा और मदिरा पिलाने मे परपीडा-करत्व का अभाव है, इसलिए वह धर्म होगा। यह इष्ट नहीं है अतएव 'परानुग्रह धर्म और परपीडा अधर्म'—धर्म और अधर्म का यह लक्षण मानना सगत नही[३१]।" जैन-परम्परा के द्वारा यज्ञ-वध पर प्रखर प्रहार होता रहा, हिंसा धर्म-पुण्य का हेतु नहीं—यह माना जाता रहा। आगे चल कर वह परपरा कुछ वदल गई—लौकिक वेग के सामने झुक गई। दया के द्रव्य और भाव—ये दो भेद कर द्रव्य-दया—व्यावहारिक अहिंसा को पुण्य का हेतु माना गया[३२]। इस विषय को लेकर आचार्य श्री तुलसी ने अपनी कृति जैनसिद्धान्त दीपिका में वडा मार्मिक विवेचन किया है। उसका संक्षेप मे सार यह हे—आध्यात्मिक दया और अहिंसा दोनो एक हें। लोक-दृष्टि मे 'प्राण रक्षा, परानुग्रह और उसके साधनो को भी' दया कहा जाता है। पर उनमे आत्म-शुद्धि का तत्त्व न होने के कारण वह मोक्ष का हेतु नही वनती। वह आत्म-साधक नहीं है—उसके मुख्यतया तीन कारण हैं—मोह का सम्मिश्रण, असंयम का पोषण और वलात्कारिता। प्रयोग के रूप में रक्खें तो उसका रूप यो वनता है कि—लोक-दया मोह की परिणति है, असंयम की पोषक है तथा उसमे वल का प्रयोग होता है, इसलिए वह तत्त्व-दृष्टि मे सम्यक् अहिंसा नहीं है। अतएव वह धर्म और पुण्य की हेतु भी नहीं है।

दान के प्रकार

जैन सूत्रो मे दान के दो रूप मिलते हैं। पहले मे द्विविध दान का निरूपण हुआ है—सयतिदान, असंयतिदान[३३]। और दूसरे मे दशविध दान का—अनुकम्पा-

दान, सग्रह-दान, भय-दान, कारुण्य-दान, लज्जा-दान, गारव-दान, अधर्म-दान, धर्म-दान, करिष्यति-दान, कृत-दान[२३४]। ये द्विविध दान के ही विस्तृत रूप हैं। धर्म-दान का संयति-दान और शेष नौ का असंयति दान मे समावेश हो जाता है। ब्राह्मण-परम्परा तथा समाज-शास्त्रो मे पुण्यार्थ दान का भी स्थान रहा है। भगवान् महावीर के श्रमण-संघ के सामने भी यह प्रश्न आना स्वाभाविक था। भगवान् ने इसके सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किए, वे सूत्रकृताग मे वर्णित हैं। सक्षेप में वे यो हैं—

"राजा-अमात्य, सेठ-साहूकार आदि कहे कि दानशाला आदि कराने मे मुझे क्या होगा? तब साधुओ को 'पुण्य होगा या पाप' ऐसा कुछ भी नही कहना चाहिए। कारण कि दान की तैयारी मे बहुत से त्रस-स्थावर जीवो की हिसा होती है, इसलिए उसमे 'पुण्य होता है' यह नही कहना चाहिये। उसका निषेध करने से, जिनको अन्न आदि दिए जाते, उनको अन्तराय होती है, इसलिए 'पुण्य नही है,' यह भी नहीं कहना चाहिए। जो दान की प्रशंसा करते हैं—वे प्राणियो के वध की इच्छा करते हैं और जो उसका निषेध करते हैं—वे दान पाने वालो की वृत्ति का छेद करते हैं[२३५]।"

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट शब्दो मे रख दिया कि वर्तमान मे—दानशाला आदि कराते समय या कराने के लिए पूछे, उस समय उसे पुण्य या पाप कुछ भी नही कहना चाहिए। उपदेश—काल मे जो दान जैसा है, उसको वैसा बताने मे कोई आपत्ति नहीं[२३६]।

सयति-दान मे दान शब्द क्रियामात्र का सूचक है, वस्तुवृत्त्या यह त्याग है—अतिथि-सविभाग-व्रत है[२३७]। अभय-दान का भी सूत्रों मे उल्लेख हुआ है। वह वस्तुवृत्त्या अहिंसा है---यह पहले कहा जा चुका है। जैन आगम के उत्तरवर्ती साहित्य मे दान के 'लौकिक और लोकोत्तर'—ये दो विभाग उपलब्ध होते हैं[२३८]। लौकिक दान अनेक प्रकार का है—गो-दान, भूमि-दान, हिरण्य-दान, अन्न-दान आदि-आदि। लोकोत्तर दान—सयमी—साधु को आहार, पानी, भैषज्य, वस्त्र, पात्र, शय्या-संस्तारक आदि देना।

आगम-साहित्य में वर्णित दान के प्रकार जानने के बाद 'दान देने से क्या होता है? दान देना चाहिए या नहीं?' इन प्रश्नो के उत्तर जानने की भी इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिए इसकी भी हम उपेक्षा नही कर सकते।

दान का फल

संयति को प्रासुक, एषणीय आहार पानी देने से निर्जरा[२३०] और असयति को शुद्ध या अशुद्ध आहार-पानी देने से पाप कर्म का वन्ध होता है[२४०]।

दान का विधान और निषेध

सयति-दान का अनेक स्थलो मे विधान है। श्रावकों की धार्मिक चर्या के वर्णन मे उसका प्रचुर उल्लेख मिलता है। असयति-दान का भी श्रावको की सामाजिक चर्या के वर्णन में अनेक स्थलो पर उल्लेख हुआ है, किन्तु उसका विधान कहीं भी नहीं मिलता और न किया भी जा सकता था। देश, काल, स्थिति के अनुरूप वदलने वाले सामाजिक धर्मों का विधान जैन सूत्रो द्वारा नही किया गया, कारण कि वे आत्म-निष्ठ भगवान् महावीर एव उनकी शिष्य परम्परा—श्रमणो के उपदेश हैं। उनमें अपरिवर्तनीय मोक्ष-धर्म का विधान किया गया है।

इसी प्रकार सामान्यतः उसका निषेध भी नहीं किया गया है।

असयति-दान के अनिषेध का कारण

प्र०—असयति दान मोक्ष-मार्ग नहीं है, इसलिए उसका विधान नहीं किया गया—यह तो ठीक है, किन्तु वह संसार का कारण है, तव उसका निषेध क्यो नहीं किया गया?

उ०—श्रमण के लिए असंयति-दान सर्वथा निषिद्ध है[२४१]। श्रावक गृहस्थ है, समाज मे रहता है, वह सर्व-विरति नहीं होता। यथा शक्ति धर्म का आचरण करता है। इसलिए उसका क्षेत्र केवल आध्यात्मिक ही नही होता[२४२]। वह सामाजिक होने के कारण वहुत सारी समाज द्वारा अभिमत अनाध्यात्मिक प्रवृत्तिया करने के लिए भी वाध्य होता है—करता है। यद्यपि वह उन प्रवृत्तियो को मोक्ष का मार्ग नहीं समझता, फिर भी वह सामाजिक सहयोग की प्रणाली के आधार पर उनका अनुसरण किये विना नहीं रह सकता। यही कारण है कि समाजाभिमत असयति-दान का निषेध नहीं किया गया—यह मन्तव्य आगमिक परपरा का है।

उत्तरवर्ती साहित्य और असयति-दान

'असयति-दान मोक्ष का मार्ग नहीं'—यहाँ तक इसमें कोई विवाद नहीं। औपनिषदिक भी यही कहते हैं कि दान से पुण्य लोक की प्राप्ति होती है। मुक्ति ब्रह्म-निष्ठ

को ही मिलती है[२४३] । इस तुलना मे एक बडा भारी भेद छिपा हुआ है, वह भी दृष्टि से परे नही किया जा सकता। उपनिषदो मे जैसे "श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से न दो, सौन्दर्य से दो, लज्जा से दो, भय—पुण्य-पाप के विचार से दो, ज्ञान-पूर्वक दो[२४४] ।" दान को व्यापकता के साथ धर्म-स्कन्ध माना है, वैसे जैन सूत्रो ने नही माना। यह ठीक है कि मोक्ष का साक्षात् कारण शुक्ल ध्यान, शुद्धोपयोग सर्व-सम्बर-रूप अवस्था है, जो उपनिषद् के शब्दो मे ब्रह्म-निष्ठ दशा है। किन्तु धर्म का स्कन्ध वही दान हो सकता है, जो आत्म-शुद्धि का साक्षात् कारण हो, दूसरे शब्दो मे जो दान साक्षात् सम्वर-निर्जरा-रूप हो। पुण्य लोक भी उसीका सहभावी गौण फल है। इसी का फलित यह हुआ कि संयति-दान ही धर्म का अंग है और उसीके साथ पुण्य-कर्म का बन्ध होता है[२४५] ।

'असयति-दान अशुभ कर्म-बन्ध का हेतु है'—यह सिद्धान्त शास्त्र-सम्मत होने पर भी लोकमत के सर्वथा और कुछ हद तक वैदिक विचार-धारा के भी प्रतिकूल था। बहुत सम्भव है कि यह बडे भारी संघर्ष का विषय रहा हो। 'अणुकंपादाणं पुण, जणेहि न कयाइ पडिसिद्ध"—अनुकम्पा-दान का भगवान् महावीर ने प्रतिषेध नही किया, यह मध्यम मार्ग संघर्ष-काल के प्रारम्भ मे निकला प्रतीत होता हैं। इसमे बताया गया कि "दान की प्रशंसा और निषेध दोनो नही करने चाहिये—यह मोक्षार्थ दान की विधि है[२४६] ।"

इससे भी विरोध-शमन नही हुआ, तब आगे चल आचार्यों ने अनुकम्पा-दान को पुण्य का हेतु माना। इस परपरा के अनुसार फल-दान की अपेक्षा दान के तीन भाग हो गए—(१) संयति-दान—मोक्ष का साधन, प्रासंगिक फल के रूप में स्वर्ग का भी[२४७], (२) असयति-दान—पाप—अशुभ कर्म-बन्ध का हेतु[२४८], (३) अनुकम्पा-दान—पुण्य-बन्ध का—स्वर्ग तथा मनुष्य के भोगो का हेतु[२४९] । इस नवीन परंपरा से सम्भवतः विरोध का शमन तो हो गया किन्तु आगमिक मन्तव्य की सुरक्षा नही हो सकी। जैन दृष्टि के अनुसार निर्जरा और पुण्य का (शैलेशी-अवस्था के अतिरिक्त) सहचारित्व है[२५०] । 'निर्जरा अल्प और पुण्य अधिक', 'निर्जरा अधिक और पुण्य अल्प',—यह हो सकता है किन्तु 'केवल पुण्य'—यह कभी नहीं हो सकता। फिर भी केवल पुण्य-हेतुक दान की मान्यता का अङ्गीकरण हुआ है, वह वैदिक परम्परा की दान-विषयक मान्यता का केवल अनुकरण मात्र है—'एते

पुण्यलोका भवन्ति[२५१] इसका प्रतिविम्ब सा है। दशवैकालिक में साधु को पुण्यार्थ तैयार किया हुआ आहार-पानी ग्रहण करने का निषेध किया है,[२५२] उससे पता चलता है कि यह लोक-प्रचलित था। पर 'अमुक दान' केवल पुण्य के लिए होता है, यह सिद्धान्त जैन सूत्रो में कही भी मान्य नही हुआ है। नौ पुण्य वतलाये हैं; उनमे अन्न-पुण्य, पान-पुण्य आदि-आदि कहे गए हैं, किन्तु इनका सम्वन्ध संयमी साधु के दान से है[२५३]।

परस्परा-भेद के ऐतिहासिक तथ्य

"धर्म-दान मोक्ष-साधना का अग है और शेष नौ दान लौकिक हैं—मोक्ष मार्ग के अग नही हैं"—इस आगम मूलक मान्यता का वीर-निर्वाण की तीसरी शती के पूर्वार्ध तक पूर्ण समर्थन होता रहा, किन्तु उससे आगे सम्पूर्ण जैन संघ इस पर एकमत नही रहा। तात्कालिक परिस्थिति एव उसके उत्तरवर्ती दान-विषयक जैन साहित्य के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है। दान-प्रणाली का विस्तार-काल भद्रवाहु स्वामी के समय में होने वाला लम्बा दुर्भिक्ष है। उस समय भिक्षा के लिए जो ऊधम होता, पट्टावली से उसकी पूरी जानकारी मिलती है। दुर्भिक्ष का उल्लेख नन्दी-टीका और परिशिष्ट-पर्व मे भी हुआ हैं। भिखमगो की कोई गिनती नही रही। कवियों, लेखको और यहाँ तक कि धर्मगुरुओं द्वारा भी 'दान की महिमा' के वडे लम्बे-चौडे पुल वाधे गए। वहुत से जैन साधु भी शिथिल हो स्वेच्छाचारी वन गए। यह वी० नि० दूसरे शतक के उत्तर चरण की घटना है। इसका धीमे-धीमे प्रभाव वढा, जो कुछ आगे चल तीसरे शतक मे दृढमूल वन गया। जैन साहित्य मे दान-विषयक साहित्य, विविध विधि-निषेध और आलोचनाएं—इसी काल से प्रारम्भ होती हैं, जो आगे क्रमशः वढती ही चली गई।

दो परम्पराए

दान का सामूहिक वातावरण और पुण्यार्थ दान मानने वालो का समाज मे प्रभाव एवं लोकप्रियता देख आगम की कठोर परम्परा मे कुछ परिवर्तन लाने वाली परम्परा ने पुण्यार्थ दान वाली विचार-धारा का आश्रय लिया। ऐसा प्रतीत होता है, आगमों के आधार पर चलने वाली साधु-परम्परा न केवल मौलिक सिद्धान्त पर अटल ही रही, अपितु उसने नई परम्परा का विरोध भी किया, जिसका उत्तरवर्ती

साहित्य मे पूर्व पक्ष के रूप मे उल्लेख मिलता है। पूर्व पक्ष का मुख्य तर्क यह रहा कि "दीन-अनाथ व्यक्ति असंयत है इसलिए उन्हे दान देना, मोक्ष का मार्ग एव धर्म-पुण्य का हेतु नही हो सकता[२५४]।" दूसरे पक्ष द्वारा इसके उत्तर मे यह कहा गया कि "सामान्यतः यह ठीक है, असयति-दान, मोक्ष एव धर्म-पुण्य का हेतु नही वनता किन्तु अनुकम्पा-दान इसका अपवाद है। वह शुभाशय का हेतु होने से पुण्य-बन्ध का कारण है[२५५]।"

अनुकम्पा-दान पर एक दृष्टि

'अनुकम्पा[२५६]-दान'—यह शब्द आगमिक है। इसे पुण्य-हेतु मानने की वात आगम मे नही मिलती। अनुकम्पा-दान की व्याख्या करते हुए टीकाकारने इतना ही लिखा है—"अनुकम्पया कृपया दान दीनानाथविषयमनुकम्पादानम्" इसका आधार सम्भवतः वाचक-मुख्य उमास्वाति का यह श्लोक है :

> "कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
> यद् दीयते कृपार्थादनुकम्पात् तद् भवेद् दानम्॥

कृपण, अनाथ, दरिद्र, कष्ट-ग्रस्त, रोगी, शोकाकुल—ऐसे व्यक्तियो को अनुकम्पा-पूर्वक जो दिया जाए—वह अनुकम्पा-दान है।" खैर, इसकी व्याख्या मे दोनो परम्पराओ मे कोई मत-भेद नहीं। मत-भेद सिर्फ यही है कि एक ने इसे पुण्यार्थ दान की कोटि का माना, तव दूसरी ने नही माना। एक वात तो यह हुई।

दूसरा प्रश्न यह उठा कि श्रावको को असयति को दान देना चाहिए या नही—उनके लिए यह विहित है या निषिद्ध? यह निश्चित है कि पूर्व-पक्ष असयति-दान को धर्म पुण्य का हेतु मानने का प्रवल विरोधी था, फिर भी इसे 'निषिद्ध' मानता था, कोई उल्लेख नही मिलता है। आगमिक परम्परा के अनुसार न निषिद्ध माना भी जाता था। किन्तु उत्तर-पक्ष की युक्तियो एव निर्णय को देखने से मालूम होता है कि 'निषिद्ध' के समर्थक भी कोई न कोई थे, वह कोई परम्परा थी या व्यक्तिगत विचार थे—यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। इसके उत्तर मे अनेक आचार्यो ने अनेक युक्तिया प्रस्तुत की हैं।

(१) अनुकम्पा-दान का भगवान् ने निषेध नही किया है[२५७]।

(२) तीर्थङ्कर स्वय दीक्षा के पूर्व वार्षिक दान देते है[२५८]।

(३) पूर्ववर्ती श्रावको के द्वार सव के लिए खुले रहते थे।

इन युक्तियो के अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र ने महावाक्यार्थ के द्वारा भी यह सिद्ध किया है कि 'अनुकम्पा-दान' श्रावको के लिए निषिद्ध नही है[१५९]।

इसके वाद तीसरी विचार-धारा आचार्य श्री भिक्षु की है, जो आगमिक विचार-धारा की आभारी है। आचार्य भिक्षु ने वताया कि 'संयति-दान, ज्ञान दान और अभय-दान— ये तीनो दान अहिंसात्मक हैं, इसलिए मोक्ष के मार्ग हैं। इनके अतिरिक्त जो कुछ दान है, वह लौकिक है। उससे धर्म-पुण्य का कोई सम्बन्ध नही। अनुकम्पा-दान के लिए भी आपने वताया कि वह श्रावको के लिए अधर्म-दान की भॉति निषिद्ध भी नहीं है तो सयति-दान की भॉति विहित भी नही है।

तीर्थंकरो ने दीक्षा ग्रहण से पूर्व दान किया, इसीलिए यदि वह पुण्य का हेतु है, तव तो तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण के पूर्व स्नान आदि करते है, वे भी पुण्य के हेतु होने चाहिए। तथा सावत्सरिक दान अनुकम्पा या दीनोद्धार के लिए नही होता। उसे सभी वर्गो के लोग ग्रहण करते हैं, केवल दीन-वर्ग नहीं[१६०]। यह दान एक मात्र रीति का परिपालन है[१६१]। आचार्य मलय गिरि ने आवश्यक टीका मे लिखा है कि भगवान् ऋपभनाथ के समय कोई अनाथ दीन या याचक थे ही नही। फिर भी उन्होंने दान दिया था।

श्रावक समाज मे रहते हैं, इसलिए वे सामाजिक व्यवहार का अनुसरण किये विना कैसे रह सकते हैं? वे यदि पहले अनुकम्पा-दान देते तो ससार के व्यवहार का पालन करते और आज भी यदि देते हैं, तो वही व्यवहार पालन होता है। तथा 'अपावृतद्वाराः'[१६२] इस विशेषण का दान से कोई भी सम्वन्ध नही है। यह विशेषण उनकी धर्म-दृढता का सूचक है[१६३]। उन्हे किसी भी पर तीर्थिक का भय नही था।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे आचार्य भिक्षु की विचार-सरणि के आधार पर आगमिक परम्परा का समर्थन किया गया है। जो दान संयमोपवर्धक है, वही निरवद्य मोक्ष-मार्ग का हेतु है और जो संयमोपवर्धक नही, वह सावद्य—अशुभ कर्म-बन्ध का हेतु है। आगमिक परम्परा से आगे वढकर 'अनुकम्पा-दान' को पुण्य का हेतु मानने वालो की युक्तिया वहाँ एकदम लचीली हो जाती है, जव वे इष्टापूर्त्त का खण्डन करते हैं[१६४]। "इष्टापूर्त्त आदि मे थोड़ो का उपकार होता है और आरम्भ अधिक होता है, इसलिए वह अनुकम्पा नही है[१६५]।"

तव प्रश्न हुआ कि 'प्रदेशी राजा ने दानशाला बनाई' यह क्या है? इसके उत्तर मे "उसका आलम्बन पुष्ट था, वह प्रवचन की उन्नति का हेतु था"[२६६] अथवा "जहाँ थोडे आरम्भ से बहुतो का उपकार होता है, वह अनुकम्पा ही है"[२६७] आदि-आदि दी जाने वाली युक्तिया प्रामाणिक जगत् के लिए कार्यकर नही हो सकती। याज्ञिक भी यही कहते हैं कि "यज्ञ-हिसा से बहुतों का उपकार होता है तथा पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक होता है, इसलिए उसमे कोई दोष नही[२६८]।" यदि थोडे पाप और अधिक पुण्य की क्रिया को ठीक माना जाए तो फिर याज्ञिक हिसा का विरोध करने का कोई आधार नही रहता। एक ही क्रिया मे पाप और पुण्य दोनो हो नहीं सकते। दोनो के कारण पृथक्-पृथक् है। पृथक्-पृथक् कारण की अपेक्षा रखने वाले दो कार्य यदि एक ही कारण से उत्पन्न हो जाय, तब फिर उनके कारणो को पृथक्-पृथक् मानने की आवश्यकता नही रहती।

धर्म-परीक्षा के लिए कष, छेद और ताप—ये तीन बातें बतलाई है। कष का अर्थ है विधि और प्रतिषेध। निर्जरा के लिए—मोक्ष के लिए तपस्या, ध्यान आदि क्रिया करनी चाहिए—यह विधि-वाक्य है। प्राणी मात्र की हिसा नही करनी चाहिए—यह निषेध-वाक्य है। किन्तु जो—

"अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वाः, असुरा इव विष्णुना।
उच्च्छेदनीयास्तेषा हि, वधे दोषो न विद्यते॥"

—इस प्रकार की क्रिया मे हिंसा का प्रतिषेध है, वह धर्म की कसौटी नहीं है। यदि यह ठीक है, तब फिर राग-द्वेष की परिणति एव आरम्भ मे हिसा का प्रतिषेध कैसे माना जा सकता है? केवल 'परिणाम शुभ है' इस पर बल देना ही ठीक नही होता। यह तो वैदिक भी कह सकते हैं कि "हम किसी को मारना नही चाहते, अधर्म का नाश चाहते है, हमारा उद्देश्य पवित्र है।" ससार-मोचक सम्प्रदाय के अनुयायी भी क्या अपना उद्देश्य पवित्र नहीं बतलाते? वे कहते हैं—"अत्यन्त दुःखी, दीन, हीन, रोग-ग्रस्त प्राणी जो निरन्तर दुःखी रहते हैं, उन्हे मार डालना चाहिए—यह महान् परोपकार है। यह देखने मे भले ही अप्रिय लगे, किन्तु इसका परिणाम सुन्दर होता है। जो इस कार्य को बुरा बतलाते हैं, इसका निषेध करते हैं, वे पापी [२६९]।" यह उनके मन्तव्य का सार है। उनका उद्देश्य मारना नही, किन्तु दुःखी दूर करना है। पर तत्त्व-चिन्ता के मार्ग मे—'इसमे हमारा कोई स्वार्थ नहीं'

'यह परोपकार है', 'इसमे आत्म-सन्तोष होता है', 'पर-तृप्ति होती है,' 'मन शुद्ध है' 'मन को शुद्ध मालूम देता है'—आदि-आदि कल्पनाए सही नही होती। इसलिए इन शब्दो की दुहाई से क्या? वृत्तिया कैसी हैं—रागात्मक हैं या अहिंसात्मक? इस बात की परीक्षा होनी चाहिए। लोकमान्य तिलक ने लिखा है—"किसी काम मे 'मन की गवाही लेना' यह काम अत्यन्त सरल प्रतीत होता है, परन्तु जब हम तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगते हैं—'शुद्ध मन' किसे कहना चाहिए, तब यह सरल पथ अन्त तक काम नही दे सकता[१०]।"

विश्व-चिकित्सा-सघ ने दया-प्रेरित हत्या की निन्दा की है—

विश्व-चिकित्सा-सघ ने एक तीव्र विवाद के बाद दया से प्रेरित होकर मरीज को मार डालने के कार्य की निन्दा करने का निश्चय किया है। भारत के डायरेक्टर एस० जी० सेन और ब्रिटेन के डा० ग्रेग दोनो ने कहा कि बहुत से मरीज को असाध्य समझ कर उसकी आत्मा को शारीरिक कष्ट से मुक्त करने के लिए उसे मारने की दवाई दे देते हैं। फ्रान्स के डा० मार्सल प्रमेलौक्स ने कहा कि इस प्रकार डाक्टरो के लिए गुनाह करने के मार्ग खुल जायेंगे। एक प्रस्ताव मे संघ ने सिफारिश की है कि प्रत्येक देश का राष्ट्रीय चिकित्सा-एसोसिएशन इस प्रकार की हत्या की निन्दा करे[११]।

अनुकम्पा के दो भेद होते हैं—द्रव्य और भाव। अन्न आदि देना—यह द्रव्य-अनुम्पा है। धर्म-मार्ग मे प्रवृत्त करना—यह भाव-अनुकम्पा है। भाव-अनुकम्पा मोक्ष का मार्ग हैं और द्रव्य-अनुकम्पा ससार का। दुःखी का दुःख देख कर रो पडना अनुकम्पा हो सकती है पर वह धर्म-पुण्य का हेतु नही हो सकता। आचार्य भिक्षु के सामने प्रदेशी की दानशाला का प्रश्न भी उलझन का नहीं था। प्रदेशी ने 'दानशाला' बनाई—यह उनका राज-धर्म था। राज-धर्म लौकिक धर्म है, आध्यात्मिक नही। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट, यौक्तिक और विशुद्ध है। आचार्य भिक्षु के शब्दो में दान का तत्त्व यह है—

अव्रतमे दे दातार, ते किम उतरै भव पार।
मार्ग नही मोख रो ए, छान्दो इण लोक रो ए॥

अव्रती—असंयमी को जो कुछ दिया जाता है, उससे आत्म-शुद्धि कैसे हो?

वह मोक्ष का मार्ग नहीं है, लौकिक अभिप्राय है। समाज की अभिरुचि है—प्रथा है। गृहस्थ भिक्षा का अधिकारी नही है, दान का पात्र नहीं है। दान का एकमात्र वही पात्र—अधिकारी है, जो पचन-पाचन क्रिया से मुक्त तथा सर्वारम्भ-सर्व परिग्रह से विलग रहता है[२७२]।

इस सम्बन्ध में आचार्य विनोवा के विचार मननीय हैं। वे लिखते है—"दुनिया मे विना शारीरिक श्रम के भिक्षा मागने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है। सच्चे संन्यासी को—जो ईश्वर-भक्ति के रग मे रंगा हुआ है, ऐसे संन्यासी को ही—यह अधिकार है। क्योंकि ऊपर से देखने से भले ही ऐसा मालूम पडता हो कि वह कुछ नहीं करता, फिर भी अनेक दूसरी वातो से वह समाज की सेवा करता है।"

सामाजिक पहलुओं का धार्मिक रूप

भारतीय समाज प्रारभ से ही धर्म-प्रधान रहा है। उसका सामाजिक पहलू आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत रहा है। जिस प्रकार लोकोत्तर पुरुपो ने—धर्माचार्यो ने मोक्ष-साधना के नियमो का 'धर्म' शब्द के द्वारा सग्रह किया, वैसे ही लौकिक पुरुषो ने, समाज-शास्त्रियो ने भी समाज-व्यवस्था के नियमो का 'धर्म'–शब्द से निरूपण किया। भीष्म पितामह ने कहा है—"जो मनुष्य जिसके साथ जैसा वर्ताव करे, उसके साथ वैसा वर्ताव करना धर्म-नीति है। मायावी के साथ माया और साधु पुरुष के साथ साधुता का वर्ताव करना चाहिए है[२७३]।" "आततायी को मारने मे दोष नही होता[२७४]।" "जो अनार्य सामादि उपायो से सिखाये जाने पर भी न सीखें, वल्कि आततायी वनकर आयें, तो उन्हे शीघ्र ही मार देना चाहिए। उनके मारने मे कोई दोष नही[२७५]।" "कहीं पर दया करना धर्म है—जैसे दीन-दुःखियों की सहायता करना, कहीं पर निर्दयता धर्म है—जैसे आक्रमणकारी को कुचल डालना[२७६]"—धर्म-सहिताओ के उक्त वाक्य समाज व्यवस्था के ही नियमो को प्रकट करते हैं। कौटुम्बिक प्रथा भी भारतीय समाज का प्रमुख अंग रही है। उसको मजबूत वनाने के लिए भी समाज-शास्त्रियो ने विविध प्रकार के धर्मो का निर्माण किया। कुटुम्ब के मुखिया के लिए कुटुम्ब का भरण-पोषण करना, सन्तान के लिए वृद्ध माता-पिता की सेवा करना आदि-आदि अनेक ऐसे धर्म वतलाए, जिनके द्वारा यह व्यवस्था स्वस्थ रूप में चलती रहे।

दीन-दुखियो के लिए भी राज्य की या समाज की कोई सामूहिक व्यवस्था नहीं थी। इसलिए समाज-शास्त्रियो ने उनकी सहायता करना, उन्हे दान देना आदि-आदि प्रवृत्तियो को भी महान् धर्म बना डाला। दान समाज का प्रमुख अग बन गया और वह चलते-चलते लोकोत्तर धर्म की व्यवस्था मे भी घुस गया। फल यह हुआ कि हजारों परिवार, लाखो व्यक्ति भिक्षुक बन गए। समाज के सिर भार बन बैठे। 'दान' एक सामाजिक नीति थी, इसीलिए सभी ने उसे बढाया-चढाया और वह खूब फैला।

आज समाज की व्यवस्था बदल गई है—पूर्ण रूप से बदल नहीं पाई है तो भी बदलना चाहती है। अब भिक्षुको को यह बताया जाता है कि श्रम किये बिना किसी के दान पर जीना, दयनीय—अनुकम्पनीय दशाए बनाकर दूसरो के दिल मे अनुकम्पा—दया के भाव पैदा कर भीख मागना महापाप है। इस नवीन व्यवस्था में भिखमगो को—दीन, दु खी, असहाय और अपाङ्ग बनकर मागने वालो को जो दान देते हैं—वे समाज के घटक तथा हितकर नहीं माने जाते।

आज की समाज-व्यवस्था बताती है कि असहायो से उचित श्रम करवाकर उन्हे मजदूरी अथवा श्रम का प्रतिफल दो, भीख मत दो। बिना श्रम लेना व देना—दोनो पाप है। पुरानी व्यवस्था मे 'दान' का स्थान था, आज की व्यवस्था में श्रम का स्थान है। उसमे दान धर्म था, इसमे श्रम धर्म है। आखिर हैं दोनो समाज की व्यवस्थाए। पहली मे विकार आ गया, इसलिए वह टूट गई। नवीन समाज को जिसकी आवश्यकता है—उसका विकास किया जा रहा है। अपाङ्गो के लिए राजकीय व्यवस्था होती है। आज की दुनिया मे वह राज्य उन्नत नहीं माना जाता, जो अपाहिजो की समुचित व्यवस्था न कर सके। जिस राज्य मे भीख और दान की प्रथा है, वह आधुनिक दुनिया मे पूर्ण सम्मान नही पा सकता। सचमुच जो अपाङ्ग नहीं हैं, केवल दान की प्रथा के आधार पर परम्परा के अनुसार मुफ्त का खाते है, उनके बारे मे महात्मा गाधी ने एक बार कहा था—"बिना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चगे मनुष्य को मुफ्त मे खाना देना मेरी अहिंसा बर्दाश्त नही कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहाँ मुफ्त खाना मिलता है, ऐसा प्रत्येक 'सदावर्त' या 'अन्न-क्षेत्र' मैं बन्द करा दूं।"

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि दान किस रूप मे चला और आज वह किस भूमिका पर आ कर रुका है। प्राचीनतम या प्राग् ऐतिहासिक युग का वर्णन करने वाले साहित्य मे मिलता है कि "न कोई याचक था और न कोई दानी।" लोक इस प्रथा से अनभिज्ञ थे। भगवान् ऋषभनाथ ने दीक्षा के पूर्व अपने गोत्रियो को दान दिया, तब से व्यावहारिक दान चला[२७७]। श्रेयासकुमार ने भगवान् ऋषभनाथ को भिक्षा दी, तब से त्यागी, श्रमण एव संन्यासियो को उनके संयमी जीवन-निर्वाह के लिए अपनी खाद्य-पेय-परिधेय वस्तुओ का विभाग देना—यह त्यागरूप दान चला[२७८]। ब्राह्मण-दान भी उसी समय चला[२७९]। क्रमशः ज्यो-ज्यो समाज बढता चला गया, त्यो-त्यो उसकी समस्याए बढती गई। दीन, दुखी, अनाथ, अपाङ्ग व्यक्तियो की संख्या बढने लगी, तब पुण्य-दान और अनुकम्पा-दान की परम्पराएं चलीं, जिनके वर्णन से ऐतिहासिक युग का साहित्य भरा पडा है। इस युग मे जैन और वैदिक दोनो के दान विषयक साहित्य मे संघर्ष के बीज उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य मे 'पात्र और अपात्र'—इन शब्दो द्वारा यह चर्चा गया[२८०]। जैन साहित्य मे 'सयति और असयति' तथा 'पात्र, अपात्र और कुपात्र'—इस रूप मे उसकी बडी-बडी चर्चाएं चली[२८१]। वि० १८ वीं शती के प्रारम्भ मे आचार्य भिक्षु ने 'अनुकम्पा-दान' को धर्मार्थ या पुण्यार्थ मानने का प्रत्यक्ष विरोध किया। और 'वह सामाजिक सम्बन्ध है, दान है ही नहीं'—इसका प्रचार किया। आज का समाज भी उस दान-प्रथा को उठाकर उसके स्थान पर श्रम तथा सम्मानपूर्ण प्रबन्ध की व्यवस्था को प्रोत्साहन दे रहा है। यह आदि काल से आज तक की भारतीय दान-प्रथा की एक स्थूल रूप रेखा है।

धर्म, दया, दान, उपकार, आदि के लौकिक और लोकोत्तर—ये दो भेद करने का कारण है—सामाजिक और मोक्ष-धर्म का भेद समझाना। क्योंकि इन शब्दों का व्यवहार समाज और अध्यात्म, दोनो के तत्त्वो का प्रकाशन करने के लिए होता है।

भगवान् महावीर समाज के व्यवस्थापक नही, धर्म-मार्ग के प्रवर्तक थे[२८२]। उन्होंने सामाजिक नियमो की रचना नही की, आत्म-साधना के नियमो का उपदेश किया था[२८३]। उनकी दृष्टि क्षणिक दुःखो के प्रतिकार मे न जाकर दुःख परम्परा मूल का उच्छेद करने पर लगी हुई थी[२८४]। उन्होंने मुनि धर्म और श्रावक-धर्म

का उपदेश किया[२८५]। मुनि-धर्म के पाच व्रत हैं। श्रावक-धर्म के पाच अणुव्रत ह। श्रावक समाज मे रहकर धर्म पालन करता है, इसलिए उसके कर्म जैन-दृष्टि के अनुसार तीन भागो में बंट जाते हे :—

१ : विहित।

२ : निषिद्ध।

३ : अविहित—अनिषिद्ध।

पाच अणुव्रत मोक्ष-मार्ग के साधक हैं, इसलिए विहित ह। जो कर्म आत्म-हित और समाज-हित, दोनो दृष्टियो से अनुचित ह, वे निषिद्ध हैं और जो सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं, अनिवार्य हें, उपादेय ह—वे न तो विहित ह और न निषिद्ध। विहित इसलिए नही कि वे मोक्ष के साधन नही हैं, निषिद्ध इसलिए नहीं कि उनके विना गृहस्थ-जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। 'निषिद्ध' को छोडने पर श्रावक के लिए दो प्रकार के कर्म रहते हैं—(१) विहित और (२) अविहित-अनिषिद्ध।

इसी आशय को पूर्ववर्ती आचार्यो ने लौकिक और लोकोत्तर—इन दो शब्दो द्वारा व्यक्त किया हे। जो मोक्ष के लिए हो, वह लोकोत्तर और समाज-व्यवस्था के लिए हो, वह लौकिक। आज की भाषा मे इन्हे क्रमशः आध्यात्मिक और सामाजिक कहा जा सकता है।

धर्म के सम्बन्ध मे यदि यह कल्पना हो कि वह समाज-व्यवस्था का नियम मात्र है, तव तो समाज-शास्त्र जिसका विधान करे, वही विहित, जिसका निषेध करे, वही निषिद्ध, जिसे अच्छा माने, वही अच्छा और जिसे उपयोगी माने, वही उपयोगी होगा। और यदि धर्म के सम्बन्ध मे कुछ दूसरी मान्यता हो कि वह सामाजिक धरातल से ऊँचा है, आत्म वाद की भित्ति पर अवस्थित है, आत्मा से परमात्मा—नर से नारायण वनने का, संसार से मोक्ष की ओर ले जाने का साधन है तो समाज के सव नियम धर्म-शात्र के द्वारा विहित हो ही नही सकते। जिन कार्यो मे हिंसा, मोह, राग, द्वेष की परिणति होती हे, वे समाज के लिए चाहे कितने ही उपयोगी, आवश्यक, अच्छे या उपादेय हो, फिर भी धर्म-शास्त्र उनका विधान नहीं कर सकते।

लौकिक अलौकिक

चिन्तन एक द्रुतगामिनी धारा है, जिसमे उर्मियो के उतार-चढाव होते हैं। उर्मि ऊपर उठती है तब ऊर्ध्व गमन की कल्पना होती है, वह नीचे आती है तब निम्न-गमन की कल्पना होती है। देखने वाला कह सकता है—यह असगति है। पर जल-धारा को यह कैसे मान्य होगा ? वह विसगति नहीं, किन्तु गति का क्रम है। ऐसा क्रम सबमे होता है। जीवन मे जो नानात्व,है, वह विसगति नही हे। हमारा जीवन अनेक विरोधी तत्त्वो का सहज सामञ्जस्य हे। वह लौकिक भी है और अलौकिक भी है। यदि वह लौकिक ही हो तो अलौकिकता की कल्पना व्यर्थ होगी और यदि वह अलौकिक ही हो तो उसे लौकिक मानने का कोई अर्थ नही होगा।

शरीर लौकिक है, इसलिए शरीर-प्रधान-दृष्टि को हम लौकिक जीवन कहते हैं। आत्मा अलौकिक है, इसलिए आत्म-प्रधान-दृष्टिकोण को हम अलौकिक या आध्यात्मिक जीवन कहते हैं। इसी तथ्य के आधार पर हम जीवन को दो दृष्टियो से देखते हैं। यह जीवन का बॅटवारा नहीं है, यह उसकी गति-विधियो का बॅटवारा है। धर्म हमारे शरीर की आवश्यकता नही है। शरीर को आवश्यकता है—भोजन की, पानी की और पदाथो की। वह स्वय पदार्थ है और पदार्थ तक ही उसकी गति है। धर्म की आवश्यकता है आत्मा को। जिन्हे आत्मा मे आस्था है, उनके लिए धर्म का मूल्य सर्वोपरि है। जिन्हे आत्मा मे विश्वास नही, उनके लिए धर्म उतना ही मूल्यहीन है, जितना कि एक आध्यात्मिक के लिए पदार्थ। धार्मिक व्यक्ति भी पदार्थ का उपयोग किए बिना नहीं जी सकते, पर उनकी दृष्टि मे उसका कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं होता। अनात्मवादी भी धर्म के सामान्य नियमो का अनुगमन करते हैं, पर उनका लक्ष्य धर्म के द्वारा आत्मा को मुक्त करने का नही होता।

इस समय हमारे सामने तीन दृष्टिकोण हैं। कुछ लोग धर्म को स्वीकार ही नही करते। उनके कर्तव्य-निर्णय के माध्यम देश, काल और परिस्थिति होते हैं। कुछ लोग धर्म को स्वीकार करते हैं और समाज की हर आवश्यक सेवा को धर्म मान कर्तव्य और धर्म को एक ही मानते हैं। कुछ लोग धर्म को स्वीकार करते हुए भी समाज का आत्म-विकास करने वाली सेवा को ही धर्म मानते हैं। वे धर्म और कर्तव्य को था। एक नहीं मानते। सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि से पहला विकल्प जितना

सरल है, उतना दूसरा या तीसरा नहीं है। तीसरा इसलिए सरल नही है कि वह धर्म को समाज के अभ्युदय का प्रमुख साधन नही मानता, दूसरा इसलिए नही कि वह समाज के अभ्युदय को प्रधानता देता है और उसका साधन वनाता है—मोक्ष के हेतुभूत धर्म को। वह जिस साध्य की प्राप्ति के लिए धर्म है, उसे गौण करता है और जो साध्य गौण है, उसे प्रधान वनाता है।

समाज के अभ्युदय के लिए जितना महत्त्व अर्थ-नीति और व्यवस्था का है, उतना धर्म का नही है और समाज-विकास के लिए जितना महत्त्व धर्म का है उतना अर्थ नीति और व्यवस्था का नहीं है। अभ्युदय से हमारा अभिप्राय है—भौतिक प्रगति और विकास से हमारा अभिप्राय है—चारित्रिक प्रगति। समाज का भौतिक सस्थान अर्थ से आगे वढता है। धर्म का उससे यदि कोई सम्वन्ध है तो वह इतना ही है कि उसका अर्थ-नीति पर अकुश रहे, उसे विकृत न होने दे। समाज का चारित्रिक विकास धर्म से होता है। अर्थ का उससे यदि कोई सम्वन्ध है तो वह इतना ही है कि परिष्कृत अर्थ-नीति मे धर्म को विकसित होने मे वाह्य परिस्थिति-जनित कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। अभ्युदय और विकास को एक मानने पर इधर धार्मिक जटिलताएं वढी तो उधर समाज-व्यवस्था भी जटिल वनी। इसीलिए समय-समय पर समाज के प्रमुखो और चिन्तको को कहना पडा—धर्म और समाज-व्यवस्था का मिश्रण न किया जाए।

डा० ताराचन्द ने अपने रेडियो भाषण मे कहा—"जहाँ तक धर्म का सम्वन्ध आध्यात्मिक अनुभव से और सत्य, त्याग जैसे शाश्वत सिद्धान्तो से है, वहाँ तक इसके वारे मे कोई झगड़े की गुजाइश नही। अर्थ और राजनीति से इसका सम्वन्ध जोडना उचित नहीं। क्योकि ये वाते देश-काल के अनुसार वदलती रहती है। यदि इनमे परिवर्तन का विरोध किया जाय तो समाज गतिहीन और जड हो जाता है। इसलिए समाज या राजनीति के सामयिक परिवर्तनो को धर्म मे परिवर्तन नही समझना चाहिए। आज के युग मे इहलौकिक और पारलौकिक विषयो को अलग रखना ही ठीक हे।"

दैनिक 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक ने इनके भाषण का साराश इन शब्दो मे दिया हे—"आकाशवाणी दिल्ली से ६ अगस्त १९५८ को राष्ट्रीय कार्यक्रम मे डा० ताराचन्द ने 'धर्म और राजनीति' विषय पर अग्रेजी मे भाषण किया। उन्होने कहा—धर्म

का जो आध्यात्मिक रूप है वह नही वदलता, न उसके वारे में कोई विवाद होना चाहिए, पर धर्म का जो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रूप है, उससे जमाने के साथ परिवर्तन जरूर होता है। इस परिवर्तन का अर्थ धर्म मे परिवर्तन या हस्तक्षेप न समझा जाना चाहिए। उचित यह है कि आध्यात्मिक वातो मे राज्यका हस्तक्षेप न हो और राजनीतिक या सामाजिक विषयो मे धर्म दखल न दे।"

धर्म क्यों ?

अनात्मवादी धर्म को नही मानते। वे नीति को स्वीकार करते है और उसके उद्देश्य मे वे स्पष्ट है। उनके अभिमत मे—"नीति एक सामाजिक आवश्यकता है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" वस, यही विचार नीति का समर्थन करने के लिए पर्याप्त है[२८६]।

आहार, श्वासोच्छ्वास, इन्द्रिया, भाषा और मन—ये न आत्मा के धर्म हैं और न पुद्गल के। ये सयोगज हैं—आत्मा और शरीर दोनो के संयोग से उत्पन्न होते हैं।

भूख न आत्मा को लगती है और न शरीर को। भोग की इच्छा न आत्मा मे होती है और न शरीर मे। आत्मा और शरीर का योग जीवन है। जीवन मे भूख भी है और भोग भी है। ये व्यक्ति के निजी धर्म हैं। इनकी पूर्ति कभी वैयक्तिक प्रणाली से होती होगी पर जव से समाज बना, शासन का उदय हुआ तव से इनकी पूर्ति सामाजिक प्रणाली से होती हैं। सामाजिक दायित्व क्रमशः विकसित हुआ है।

साधन अधिक होते हैं और उपभोक्ता कम, तव भूख और भोग समस्या नही बनते। साधन कम होते हैं और उपभोक्ता अधिक, तव वे समस्या वन जाते है, साधन पर्याप्त होने पर भी यदि सग्रह की वृत्ति अधिक होती है तो वे समस्या वन जाते हैं। आज सचमुच वे समस्या वने हुए हैं—प्रायः सभी जगह, विशेष रूप से उन देशो में, जो अविकसित या अल्प विकसित हैं। आज के शासन तत्र इनके समाधान मे अनवरत लगे हुए हैं। भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रणालियो का विकास इसी उद्देश्य से हुआ है। सामाजिक समस्या के समाधान के लिए समाज की विभिन्न प्रणालियो का प्रयोग और विकास हो—यह समझ मे आने जैसा हे।

इन दिनो एक नया विचार सामने आ रहा है, उसका संकेत हे कि भूख और

भोग की समस्या के समाधान मे धर्म का योग होना चाहिए। भूखे लोगो की उपेक्षा कर, उनकी ओर ध्यान न देकर जो धर्म चलता है वह क्या धर्म है?

लाखो आदमी भूख की समस्या से चिंतित हैं, उस दशा मे धार्मिक लोग धर्म का उपदेश दें, उसका क्या अर्थ हो सकता है, जब तक वे भूखो की भूख मिटाने का यत्न न करें।

यह विचार कोई सर्वथा नया नही है। नया मैने इसलिए कहा है, कुछ जन-सेवक इसकी चर्चा आजकल अधिक करते हैं। जो बुद्धिवादी या समाज-विज्ञान की दृष्टि से सोचने वाले हैं—वे इस विचार को अधिक महत्त्व नहीं देते। उसके पीछे एक निश्चित धारणा है और वह यथार्थ है। हम भावावेग से मुक्त होकर देखे तो यह स्पष्ट दीखेगा कि समाज की समस्या का समाधान सामाजिक व्यवस्था के समयोचित परिवर्तन से जितना सुलभ होता है, उतना दूसरे प्रकारो से नही।

जीवन की भौतिक समस्याओ का समाधान यदि धर्म के पास हो और यदि धर्म का उद्देश्य उनकी पूर्ति करना हो तो उसे समाज-व्यवस्था से अधिक मूल्य नही दिया जा सकता। भौतिक और आत्मिक—ये दो भिन्न कोटि के अस्तित्व-क्रम हैं। भौतिक अस्तित्व-क्रम सामयिक है और आत्मिक अस्तित्व-क्रम त्रैकालिक। सामयिक व्यवस्था के साथ त्रैकालिक तत्त्व की सगति नही बिठाई जा सकती। ये दो भिन्न दिशाए हैं—एक बन्धन है और एक मुक्ति। भौतिक जगत् आत्मिक अस्तित्व को मिथ्या या भ्रान्त मानता है और आत्मिक जगत् भौतिक उपभोग को बन्धन कारक मानता है।

यद्यपि एक ही व्यक्ति भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार का जीवन जी सकता है, जीता है, किन्तु एक ही साथ दोनो प्रकार के जीवन नही जिये जा सकते, तात्पर्य की भाषा में एक ही क्रिया के द्वारा दोनो की आराधना नही की जा सकती। भौतिक पदार्थो का प्रयोग किए बिना कोई भी देहधारी नही जी सकता—यह जितना सच है उतना ही सच यह है कि पुद्गल और आत्मा मे स्वरूप-कृत विरोध होता है, क्रियात्मक विरोध नही है। पौद्गलिक पदार्थ धार्मिक के लिए साधक या बाधक कुछ भी नहीं हैं। वे अपने स्वरूप मे हैं, आत्मा अपने स्वरूप में है।

विरोध या असंगति इनके संयोग की उपज है। आत्मा पुद्गलो के सम्पर्क मे आ जब उनमें मूर्च्छित हो जाती है—उनकी उपलब्धि के लिए अपने अस्तित्व के

प्रतिकूल कार्य करती है तव उनमे विरोधी योग वनता है। उस स्थिति मे सूक्ष्म पुद्गल आत्मा से चिपट जाते हैं। उनकी प्रतिक्रिया आत्म-हित के प्रतिकूल होती हे। वे चैतन्य को आवृत्त करते हैं। इसीलिए धर्म के मनीपियो ने कहा—मूर्च्छा से वचो, मूर्च्छा से वचने के लिए पौद्गलिक पदार्थो के सम्पर्क से वचो। आवश्यकता को भी अनिवार्यता की कोटि मे ले आओ। अनावश्यक मत लो और आवश्यक भी वह लो, जो अनिवार्य हो। पदार्थ भले हो, आसक्ति न हो—यह सिद्धान्त जितना सरल है, उतना ही कठिन इसका आचरण है। पदार्थ को त्यागे विना आसक्ति को त्याग सके—यह सामान्य क्रम नही है। अपवाद मे कुछ उदाहरण मिलते हैं, उन्हे सामान्य सिद्धान्त के रूप मे व्यवहृत नही किया जा सकता।

लगभग सभी धर्म-प्रवर्तको ने कहा—भोग छोडो, त्याग करो। त्याग हमारे आध्यात्मिक विकास का सर्वोपरि मन्त्र है। त्याग को केवल निषेधात्मक कहने वाले इस तथ्य को भुला देते हैं कि आध्यात्मिक जगत् मे आत्मा के लिए उपादेय कुछ भी नहीं है। आत्मा अपने आप मे पूर्ण है। उसकी पूर्णता हेय पदार्थ सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ से तिरोहित रहती है। वह आत्मा का स्पर्श तभी कर सकता है जव आत्मा का उसमे लगाव होता है। त्याग का अर्थ है—उसमे आत्मा का लगाव न रहे, नए सिरे से वह आत्मा का स्पर्श न करे। हेय अश का त्याग होता है, इसका अर्थ हे—उपादेय अश का विकास होता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो आत्मा का विकास होता है। काण्ट ने कहा—नैतिक उच्चता के साथ सुख का साहचर्य होना चाहिए। त्याग संयम हे, नैतिक उच्चता है। आनन्द आत्मा का सहज स्वरूप है। जव हेय अश की निवृत्ति होती है, तव आनन्द का अखण्ड स्रोत फूट पड़ता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है—यह चिरपोपित मान्यता हे। समाज की यह अपेक्षा है कि मनुष्य एक निश्चित सीमा तक त्याग या आत्म-नियन्त्रण करे। इसमे धर्म के प्रति आस्था रखने या न रखने का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह सर्व सामान्य भूमिका है। मुमुक्षु लोग समाज की अपेक्षा को सामने रखकर आत्म-नियन्त्रण नही करते। वे आत्मा को उर्ध्व गामी वनाने के लिए वैसा करते हैं। सामाजिक प्राणी मे प्राणैपणा, विपयैपणा और सुतैपणा होती है। वह उनके लिए कामना भी करता पर यह धर्म की उपासना नही हे।

धर्म का अनुष्ठान आत्मा के अस्तित्व पर आधारित है[२८७]। भगवान् महावीर ने कहा—

(१) "इह लोक के लिए धर्म मत करो,

(२) परलोक के लिए धर्म मत करो,

(३) पूजा श्लाघा के लिए धर्म मत करो,

(४) केवल आत्म-शुद्धि के लिए धर्म करो [२८८]।"

भौतिक सुख-सुविधा के लिए धर्म करने का सिद्धान्त तब बना होगा, जब वह जनता के लिए दुष्प्राप्य थी। समाज-व्यवस्था के द्वारा जब वह सुप्राप्य हो गई, तब उसके लिए समाज-व्यवस्था के अतिरिक्त धर्म की आवश्यकता नहीं रही। इसी प्रकार जिन-जिन अगम्य और दुष्प्राप्य पदार्थों की उपलब्धि के लिए मनुष्य इच्छुक थे, उन्ही के लिए धर्म करते गए। पर यह यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं है। पदार्थ सुप्राप्य जो बने हैं, वे धर्म के द्वारा नही बने हैं।

आत्मा भौतिक पदार्थ नही है, जो किसी समाज-व्यवस्था द्वारा उपलब्ध किया जा सके। वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे है। उसकी उपलब्धि के लिए इनकी स्थिरता अपेक्षित है। ध्यान और साधना की पद्धति का विकास इसी निमित्त से हुआ है।

मन, वाणी और शरीर की चञ्चलता जितनी अधिक मिटती है, उतनी ही अधिक उसकी उपलब्धि होती है। पदार्थ की प्राप्ति के लिए भी स्थिरता की ससीम साधना करनी होती है, किन्तु उसकी असीम साधना केवल आत्मोपलब्धि के लिए ही की जाती है। अनात्मवादी का चरम तत्त्व दृश्य जगत् से आगे नहीं है। आत्मवादी का चरम तत्त्व दृश्य ही नही है। दृश्य की आराधना दोनो के लिए आवश्यक है और उसका निर्देशन समाज-शास्त्र से मिलता है। अदृश्य जगत् की आराधना केवल आत्मवादी के लिए है, इसीलिए वह धर्म का आचरण करता है। इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा—पार्थिव! आश्चर्य है कि तुम प्राप्त भोगो का त्याग करते हो? और अप्राप्त भोगो की प्रार्थना करते हो? किन्तु इससे तुम्हे पछताना होगा।

राजर्षि ने कहा—"ये काम भोग शल्य हैं, विष हैं, आशीविष सर्प के समान भयंकर हैं। जो इनकी प्रार्थना करता है, वह काम-भोगो को भोगे बिना भी दुर्गति में जाता है[२८९]।

विरक्त आत्मा की मोक्ष मे जो आस्था होती है, उसे अनुरक्त आदमी नही पकड़ सकता और अनुरक्त की पदार्थो मे जो आस्था होती है, उसे एक विरक्त आदमी नहीं समझ सकता। किन्तु यह स्पष्ट है कि भोग के लिए यदि धर्म हो तो उसका वास्तविक उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है और धर्म से यदि भोग मिलते हो तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता हैं।

भृगु पुरोहित ने कहा—पुत्रो। जिसके लिए लोग तप करते हैं, वे सब धन, स्त्रिया, स्वजन और काम-भोग तुम्हे प्राप्त हैं, फिर किसलिए तुम मुनि बनना चाहते हो?

पुत्रो ने कहा—पिता। धर्म की आराधना करने मे धन, स्वजन और काम-भोगोका क्या प्रयोजन? [२१०]

धन से भौतिक जीवन को सुखद बनाया जा सकता है, अपनी या पराई कठिनाइयो को मिटाया जा सकता है। विषमता से उत्पन्न दौर्मनस्य का अन्त किया जा सकता है, किन्तु धर्माराधना के लिए उसका कोई प्रत्यक्ष उपयोग नही है। परोक्ष-सहायता की बात दूसरी है। भौतिक स्थिति कहीं आत्मिक विकास की और आत्मिक स्थिति कहीं भौतिक विकास की परोक्ष सहायक हो सकती है।

प्रश्न अभी शेष है कि जो अविकसित जातिया हैं, जिनके सामने भूख, व्याधि आदि अनेक समस्याएं हैं, उनकी सेवा मे जो न लगे, दरिद्र नारायण की उपासना न करे, गरीबी मिटाने का यत्न न करे, उसकी धर्म-साधना कैसी है? यह करुणा का मनोभाव है। पुरानी समाज-व्यवस्था मे करुणा का विशेष महत्त्व रहा है। समर्थ लोग हीन-दीन जनो पर दया दिखाए—इस करुणा धर्म को मान्यता मिलती रही है। वर्तमान युग अधिकार जागरण का युग है। इसमे करुणा को महत्त्व नहीं दिया जाता। अविकसित जातियो का विकास करना, गरीबी को मिटाना, सब को भौतिक विकास का समान अवसर देना, आज की समाज-व्यवस्था के प्रधान अंग हैं। इन समस्याओ को धर्म के द्वारा कैसे सुलझाया जा सकता है, भौतिक विकास मे धर्म कहाँ तक साथ दे सकता है? यह गभीरता पूर्वक विचार करने योग्य है। यह निश्चित है कि समाज मे अविकसित और विकसित का भेद रहा, एक पक्ष मे गरीबी और दूसरे पक्ष मे बहुलता रही, तो क्रूरता बढेगी, घृणा फैलेगी और हिंसक क्रान्ति की संभावना सुदृढ हो जाएगी। इस परिस्थिति को सुलझाने के लिए अविकसित-जातियो को भौतिक साधनो से सम्पन्न करने का जो यत्न किया जाता है, उसका

स्वरूप भले ही आध्यात्मिक न हो, परन्तु परिस्थिति से उत्पन्न हिंसा की उत्तेजना को रोकने की दिशा में वह महत्त्वपूर्ण कदम है।

भौतिक विकास का समाज-व्यवस्था की दृष्टि से, आत्मिक विकास का आध्यात्मिक दृष्टि से मूल्य आंका जाए तो उनके स्वतन्त्र अस्तित्वों का हनन भी नहीं होता और किसी अनात्मवादी या आत्मवादी के सामने कोई समस्या भी उपस्थित नहीं होती।

धर्म की उत्पत्ति भय, दुःख आदि निमित्तों से नहीं हुई है, उसका निमित्त आत्मा का विकास, मुक्ति या पूर्णता की उपलब्धि है।

जिनका दृष्टिकोण न पूरा सामाजिक है और न पूरा आध्यात्मिक है, वे न केवल समाज के अभ्युदय के लिए ही नीति को स्वीकार करते हैं और न विकास के लिए ही धर्म को। वे अभ्युदय और विकास दोनों के लिए धर्म का सहारा लेना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि न नीति सफल होती है और न धर्म, न अभ्युदय होता है और न विकास। कोई भी सामाजिक व्यक्ति अभ्युदय और नीति की तब तक उपेक्षा नहीं कर सकता, जब तक वह सामाजिक जीवन जीता है, किन्तु विकासकी भावना उद्बुद्ध होने के कारण वह धर्म की आराधना भी करता है। यह अभ्युदय और विकास, नीति और धर्म के प्रति सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण है।

धर्म क्या है ?

धर्म शब्द अपने आप में उलझन भरा है। वह अभ्युदय के हेतुभूत विधि-विधानों व मोक्ष के साधनों तथा और भी अनेक अर्थों का वाचक है। अधिक उलझन का कारण भी यही है। यदि धर्म शब्द मोक्ष के साधनों का ही वाचक होता तो सम्भवतः इतनी उलझनें नहीं बढतीं। अपने आपको सुधारक या क्रान्तदर्शी मानने वाले भी अपनी हर सामाजिक प्रवृत्ति को धर्म का रूप देने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहे हैं—यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। अभ्युदय और विकास में कोई अन्तर ही न हो, नीति और धर्म एक ही हो तो धर्म को अभ्युदय की भूमिका से आगे ले जाने का अर्थ ही क्या है? समाज-नीति से पृथक् उसके अस्तित्व का स्वीकार ही क्यों? धर्म का स्वीकार इसीलिए तो है कि उसका साध्य अभ्युदय से भिन्न है। धर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व इसीलिए तो है कि उसका स्वरूप नीति से भिन्न है।

नीति से हमारा अभिप्राय है जीवन-यापन की व्यवस्थित पद्धति, अभ्युदयकारक व्यवस्था। इसका स्वरूप धर्म से इसलिए भिन्न है कि धर्म का आदि, मध्य या अन्त जो कुछ भी है वह अहिंसा है और नीति के सामने सर्वोपरि प्रश्न होता है—सामाजिक जीवन की उपयोगिता। सामाजिक उपयोगिता के लिए हिंसा आवश्यक हो तो वह नीति को मान्य हो सकती है, होती है, पर धर्म को वह मान्य नहीं हो सकती। खेती सामाजिक जीवन की अपेक्षा है, इसलिए वह हिंसा होते हुए भी नीति द्वारा सम्मत है। धर्म-सम्मत इसलिए नहीं कि वह हिंसा है, भले फिर वह अनिवार्य हो। एक दिन मोक्षार्थी को उससे मुक्त होना होता है, जैसा कि महात्मा गाधी ने लिखा हैं—"खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर-व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है और मनुष्य ज्ञान और भक्ति के द्वारा अन्त मे इन अनिवार्य दोषो से मोक्ष प्राप्त करके इस हिंसा से भी मुक्त हो जाता है[२९१]"—दूसरी जगह वे इस तथ्य को इन शब्दो मे स्वीकार करते हे—"यह वात सच है कि खेती मे सूक्ष्म जीवो की अपार हिंसा है[२९२]।" धर्म की भूमिका पर चिन्तन करने वाले प्रायः सभी धर्माचार्यो ने कृषि को अहिंसा—धर्म नहीं माना है। बड़ा आश्चर्य तो यह है कि राजनीति की कसौटी पर धर्म को परखा जाता है। धर्म मोक्ष की कसौटी पर ही खरा उतर सकता है, राजनीति की कसौटी पर नही। धर्म की चर्चा निर्विकल्प-समाधि, जीवन-मुक्ति, पूर्ण सवर, पूर्ण अक्रिया और शरीर मुक्ति तक चली जाती है, पर राजनीति इसे कव मान्य करेगी। आखिर हमे अपनी-अपनी सीमा के विधि-निषेधो का ध्यान रखना चाहिए। धर्म के विधि निषेधो को राजनीति या समाज-नीति की दृष्टि से तौले और उनके विधि-निषेधो को धर्म की दृष्टि से तौले तो उनमे पूर्ण सामंजस्य कैसे होगा? आत्म-विकास के जो उपादान हैं, वे धर्म हैं। आत्म-स्थिति ही धर्म है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

जव से मोक्ष की मान्यता चली है तव से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति की चर्चा भी चल रही है। कुछ लोग प्रवृत्ति को अधिक महत्त्व देते हैं और कुछ लोग निवृत्ति को। सच तो यह है कि जीवन-काल मे प्रवृत्ति को छोडा ही नही जा सकता और के लिए निवृत्ति की भी उपेक्षा नही की जा सकती। जैन मुनि के लिए पाच

समितिया प्रवृत्त्यात्मक धर्म है और तीन गुप्तिया निवृत्त्यात्मक धर्म है[२१३]। कहा जाता है तेरापन्थ प्रवृत्ति को धर्म नही मानता—इसमें पूरी सचाई नही है। धर्म दो प्रकार के हैं—सवर और निर्जरा। इनमें निर्जरा प्रवृत्त्यात्मक धर्म है। अनागत कर्म-परमाणुओ का निरोध संवर से होता है और सचित कर्म-परमाणुओ का विनाश निर्जरा से होता है। ये निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों मिलकर मोक्ष की प्रक्रिया को पूर्ण बनाते हैं। केवल निवृत्ति से भी मोक्ष नही होता और वह केवल प्रवृत्ति से भी नहीं होता। तेरापन्थ के अनुसार निवृत्ति से परिष्कृत प्रवृत्ति धर्म है। असयममय प्रवृत्ति धर्म नहीं है। प्रेम, आत्मौपम्य, सत्य-वचन, संतोष और त्याग—ये धर्म हैं। प्रज्ञाचक्षु पडित सुखलालजी की निम्न पक्तियो का अभिमत तेरापन्थ को कब अमान्य रहा है? वे पंक्तिया ये हैं—"जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतो को धारण करने की शक्ति नही रखता उसके लिए जैन परम्परा में अणुव्रतो की सृष्टि करके धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढने का मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थो के लिए हिंसा आदि दोषो से अशत. बचने का विधान किया है। उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषो से बचने का अभ्यास करें। पर साथ ही यह आदेश है कि जिस-जिस दोष को वे दूर करें, उस-उस दोष के विरोधी सद्गुणो को जीवन मे स्थान देते जाए। हिसा को दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुणो को जीवन मे व्यक्त करना होगा। सत्य बिना बोले और सत्य बोलने का बल बिना पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी गुण-पोषक प्रवृत्तियो मे अपने आपको खपाना होगा[२१४]।" परन्तु उनकी वे पक्तिया जिनकी रचना इन शब्दो में है—"दान का निषेध सार्वजनिक हित प्रवृत्ति का निषेध इतना ही नहीं, जीव-दया पालन का भी निषेध, यह हुई तेरापन्थ की निवृत्ति[२१५]"—चिन्तन की गहराई लिए हुए नहीं हैं। तेरापन्थ की मान्यता का यह वैसा ही चित्रण है जैसा कि स्याद्वाद का निरसन करते समय शकराचार्य ने किया है। दान सग्रह का आवरण है—इस ऐतिहासिक तथ्य को पंडितजी जैसे मनीषी व्यक्ति दृष्टि से ओझल कर देते हैं—यह आश्चर्य की बात है। क्या जैन आगम साहित्य मे असंयति-दान को धर्म माना है? [२१६] "असयति को दान देकर जो पुण्य-फल की इच्छा करता है, वह जलती हुई अग्नि मे बीज बोकर अनाज पाना चाहता है[२१७]।" क्या यह आचार्य अमितगति की वाणी नहीं है? कन्या-दान, गो-दान, भूमि-दान आदि को धर्म की

कोटि मे मानने से इन्कार नही किया है[२९८] ? यदि यह है तो फिर "तेरापंथ दान का निषेध करता है"—इस उक्ति के पीछे रहस्य क्या है ? किसी कार्य को धर्म न मानना और उसका निषेध करना—ये दोनो एक तो नही हैं। तेरापथी लोग असयति-दान को मोक्ष धर्म नहीं मानते—यह दान का निषेध कैसे ? तत्त्व-चिन्तन की भूमिका मे महात्मा गाधी ने माना कि खेती मे हिंसा है, पर खेती मे हिसा मानने का अर्थ उसका निषेध कैसे होगा ? आवश्यक कार्यों का निषेध नही किया जा सकता—यह जितना सच हैं उतना ही सच यह भी है कि आवश्यक होने के कारण हिसा को अहिसा और असयम को मोक्ष-धर्म नही माना जा सकता।

कृषि मे हिसा है, खाने मे भी हिसा है, जीवन चलाने में भी हिंसा है। जो हिसा हैं वह है। उसे स्वीकार करने का अर्थ है—तथ्य का स्वीकार। मनुस्मृतिकार ने लिखा है—"गृहस्थ के घर पॉच वध-स्थान हैं—चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जल का घर[२९९]"। यह तथ्य की स्वीकृति है। इसका अर्थ निषेध कैसे होगा ? जीवन की आवश्यकताओ व सामाजिक अपेक्षाओ का निषेध किया भी कैसे जा सकता है ?

विनोवाजी ने लिखा है—"कुछ जैन वन्धु तो खेती करना पाप मानते हैं। खेती के काम से जन्तुओ की हिसा होती है। पर वह हिसा लाचारी की हिंसा है। शरीर के साथ-साथ कुछ न कुछ हिंसा जुड़ी हुई है, इसलिए उससे वचकर आप नही रह सकते। धान्य उत्पादन करने मे हिंसा होती है, तो क्या धान्य का व्यापार करने मे हिसा नहीं होती ? खाना पैदा करने मे पाप है, तो क्या खाना खाना पाप नही है[३००] ?" इसमे तथ्यो का विश्लेषण है। यह सत्य है—हिसा धान्य उत्पन्न करने मे भी होती है और उसके व्यापार मे भी। वह खाना पैदा करने मे भी होती है और खाने मे भी। पर जैन-दृष्टि से इसका फलित यह नहीं कि खेती मत करो, व्यापार मत करो या मत खाओ। आनन्द श्रावक भगवान् महावीर का प्रधान उपासक था। उसके वहुत वडी खेती थी। वह किसान भी था और वारह व्रती श्रावक भी। खेती हिंसक धन्धा है और व्याज का धन्धा या व्यापार हिसक धन्धा नहीं है—ऐसा गलत विचार भी कुछ लोगो मे दृढमूल वना, पर यह वास्तविक नहीं । महापुराण में व्याज को आर्त-ध्यान माना है—महाहिंसा का हेतु माना है। ।न के अधिकाश जैनी खेती नहीं करते, इसका कारण अहिसा-दृष्टि नहीं है।

उसका कारण है—सुविधावाद, ऐश्वर्य और आगमपरता। कुछ स्थानो के, जैसे कच्छ मे जैन बन्धु अभी भी खेतीहर हैं। १९ वी शताब्दी मे राजस्थान मे भी बहुत जैनी खेती करते थे। जो लोग आज लखपती या करोडपती हैं, उनके बाप-दादा किसान भी थे। जैन धर्म की अहिंसा का खेती से विरोध कहाँ है? आचार्य भिक्षु ने श्रावक के बारह व्रतो की विवेचना की है। उसमे उन्होने श्रावक को खेतिहर के रूप मे प्रस्तुत किया है। श्रावक गुरु के पास आता है और बारह व्रतो को स्वीकार करने की प्रार्थना करता है। पहला व्रत अहिंसा है। उसे स्वीकार करते समय वह कहता है—"प्रभो! पहले व्रत मे हिंसा का प्रत्याख्यान होता है। हिंसा दो प्रकार की है—त्रस जीवो की हिंसा और स्थावर जीवो की हिंसा। स्थावर जीवो की हिंसा न करूँ तो पेट नही भरता, इसलिए मैं त्रस जीवो की हिंसा का त्याग करता हूँ और स्थावर जीवो की हिंसा का परिमाण करता हूँ। एक बात और है—मैं इतना सहिष्णु नही हूँ कि अपराधी को क्षमा कर सकूँ। मैं उन्ही त्रस जीवो को नही मारूँगा जो अपराधी नही हैं। अहिंसा मे सावधानी की बहुत आवश्यकता है, मैं इतना सावधान नही हूँ। मैं धान तौलता हूँ, गाड़ी पर चढकर गावो मे जाता हूँ, खेती करता हूँ, वहाँ बहुत जीव मर जाते हैं, इसलिए मैं वहाँ सकल्प पूर्वक त्रस जीवो को मारने का प्रत्याख्यान करता हूँ[३०१]।"

यह प्रसग आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालता है। उनका दृष्टिकोण यही था कि हिंसा को, भले फिर वह अनिवार्य हो, अहिंसा न माना जाए। जो अहिंसा नही है, उसे मोक्ष-धर्म की बुद्धि से न किया जाए। सामाजिक प्राणी समाज की आवश्यकताओ को पूरा न करे—यह प्रतिपाद्य न उनका था और न किसी भी तेरापथ के आचार्य का कभी रहा है।

कृषि जो समाज की आवश्यकता है

जहाँ देह है वहाँ आहार है। जहाँ आहार है वहाँ प्रयत्न है। जहाँ प्रयत्न है वहाँ सहयोग है। समाज और क्या है? सहयोग का विनिमय ही तो समाज है। समाज आकिक नही होता वह गुण-मात्रिक होता है। इसीलिए समाज की जो आवश्यकता है, वह व्यक्ति की आवश्यकता है और जो व्यक्ति की आवश्यकता है, वह समाज की आवश्यकता है। कृषि समाज की आवश्यकता है, जब मनुष्यो के लिए

वृक्षज आहार पर्याप्त नही रहा तब वे अन्नाहारी बने। जैन साहित्य के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा के हित के लिए कृषि का उपदेश दिया[३०२]।

कृषि समाज के निर्वाह और अभ्युदय का हेतु है, इसलिए यह प्रजा के लिए हितकर है[३०३]।

प्रजा के लिए कृषि जितनी हितकर है, उतना ही हितकर वाणिज्य है। आयात-निर्यात के बिना आवश्यकता पूर्ण नहीं हो सकती। समाज के लिए कृषि भी हितकर है, वाणिज्य भी हितकर है, और भी अनेक कार्य हितकर हो सकते हैं। हिंसा भी समाज के लिए हितकर है। सुरक्षा के साधन और शस्त्रास्त्र भी उसके लिए हितकर हैं। एक शब्द मे समाज के लिए जो आवश्यक है वह सब हितकर है। समाज का हित निर्वाह की सामग्री उत्पन्न करने मे है—और अभ्युदय करने मे है—पदार्थो का विकास करने में है। इस रेखा तक सम्भवतः मतद्वैध नही है। एक अनात्मवादी भी—जिसके लिए अहिंसा नीति हो सकती है, धर्म नहीं—समाज का अभ्युदय चाहता है और उसके निर्वाह की साधन-सामग्री को उत्पन्न करना चाहता है। एक आत्मवादी भी वैसा ही चाहता है, जिसके लिए अहिंसा का मूल नीति से वढकर होता है। सामाजिक हित का जहाँ प्रश्न है वहाँ एक आत्मवादी और अनात्मवादी दोनो का धरातल एक है। किन्तु आत्म-हित का प्रश्न अनात्मवादी के लिए नगण्य है और आत्मवादी के लिए वह महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा आत्मवादी के लिए धर्म है। इसलिए वह जिस प्रकार समाज-हित की दृष्टि से सोचता है, उसी प्रकार हिंसा और अहिंसा की दृष्टि से भी सोचता है। जिससे समाज का हित सधता है—निर्वाह और अभ्युदय होता है, वह सारी प्रवृत्ति अहिंसा है—यह कैसे माना जाए? यदि यह माना जाए तो इसका निष्कर्ष होगा कि जो समाज के लिए आवश्यक है, वह अहिंसा है और जो अनावश्यक है, वह हिंसा है।

भगवान् ऋषभदेव ने जनता की आवश्यकता को समझ कृषि का उपदेश दिया पर उसे अहिंसा नही कहा। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—"ये सब कृषि, वाणिज्य आदि कार्य सावद्य हैं—हिंसा के दोष से युक्त हैं, फिर भी स्वामी (ऋषभदेव) ने लोकानुकम्पा से प्रेरित होकर इनका प्रवर्तन किया क्योकि राजा होने के नाते ऐसा करना वे अपना कर्तव्य मानते थे[३०४]।" आवश्यक होने मात्र से हिंसा अहिंसा नही बन। जो हिंसा है, वह पाप है। पाप का एक अर्थ होता है—निन्दनीय आचरण।

खेती कोई निन्दनीय आचरण नहीं है। वह समाज सम्मत आचरण है और धर्म-शास्त्र की दृष्टि से भी वह जीवन-निर्वाह का आर्यजनोचित साधन है।

कर्मार्य तीन प्रकार के हैं—सावद्य कर्मार्य, अल्प सावद्य कर्मार्य और असावद्य कर्मार्य। सावद्य कर्मार्य असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वणिक्कर्म के भेद से छह प्रकार के हैं। तलवार, धनुष आदि शस्त्र-विद्या मे निपुण असि-कर्मार्य हैं। मुनीमी का कार्य करने वाले मषि-कर्मार्य है। हल आदि से कृषि कर्म करने वाले कृषि-कर्मार्य है। चित्र, गणित आदि ७२ कलाओ मे कुशल विद्या-कर्मार्य है। धोवी, नाई, लुहार, कुम्हार आदि शिल्प-कर्मार्य हैं। चन्दन, घी, धान्यादि का व्यापार करने वाले वणिक्कर्मार्य हैं। ये छहो अविरत होने से सावद्य कर्मार्य हैं। श्रावक और श्राविकाए अल्प सावद्य कर्मार्य हैं। मुनि व्रतधारी सयत असावद्य कर्मार्य हैं[३०५]।

पाप का दूसरा अर्थ है असत् कर्म-परमाणुओ का बन्धन। इस अर्थ मे खेती भी पाप है। उसमे जीवो की हिमा होती है। उससे बन्धन भी होता है। थोडे से सत्प्रयत्न से उसकी मुक्ति हो जाती है, यह भले माना जाए पर जिससे थोडा भी वन्धन होता है, उसे मुक्ति का साधन कैसे कहा जाए? आचार्य विनोबा ने लिखा है—"जो धर्म कृषि को पाप मानता है, वह धर्म नही है"—उसका आशय निन्दनीय कर्म से हो तो हमे कुछ नहीं कहना है और उसका आशय यदि वन्धन हो तो हम यह कहने के लिए विवश हैं कि जैन धर्म कृषि को वन्धन कारक मानता है, किन्तु मुक्ति कारक नही। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे जीवनिकायो की हिसा के प्रयोजन बतलाए हैं। वहाँ पृथ्वीकायिक जीवो की हिसा का प्रयोजन वतलाते हुए लिखा है—"अनेक लोग कृषि, पुष्करिणी, वावडी, कूए, सरोवर, तालाव, चैत्य, खाई, आराम, विहार, स्तूप, प्रासाद, भवन, झोपडी, देवालय, मण्डप आदि अनेक प्रयोजनो से पृथ्वीकाय के जीवो की हिंसा करते हैं[३०६]।

आनन्द भगवान् महावीर का प्रमुख उपासक था। वह कुटुम्ब का प्रधान था और एक वड़ा किसान था। और भी अनेक जैन किसान हुए हैं। इसमे धर्म का प्रश्न ही क्यो? जो जीवन-निर्वाह की आवश्यकता है, उससे किसी भी धर्म का अनुयायी उदासीन नहीं हो सकता।

आज की वढती हुई जनसख्या ने खेती के प्रश्न को फिर विकट वना दिया है। खेती और अहिंसा की चर्चा नई नही है। यह आवश्यकता और जीव-वध का द्वन्द्व है,

इसलिए यह चर्चा होना अस्वाभाविक भी नही है। इस विषय की चर्चा भारत से बाहर भी हुई है। अमरीकी वैज्ञानिक डाक्टर अलेक्जेण्डर एफस्कच ने 'खेत में अहिंसा' शीर्षक अपने लिखित भाषण में अहिंसा के बारे में कई प्रश्न उपस्थित किए हैं।

उन्होने लिखा है—"पृथ्वी से अन्न को उपजाने अर्थात् खेती करने का—'सर्वोपरि अहिंसा पालन के संग मेल नहीं खाता है। खेती में निश्चय ही, वनस्पति के साथ ही नहीं, पशु-प्राणियो के साथ भी संग्राम करना पडता है। जहाँ तक वनस्पति का सम्बन्ध है, किसान अपनी फसलो के साथ इतनी हिंसा नहीं करता है, जितनी वह अपनी खेती की जमीन पर स्वतः उगने वाले पौधो के साथ करता है।"

"सर्व उच्च आदर्शों की तरह, अहिंसा के आदर्श का भी पालन करना सहज नहीं है, जिस स्वाभाविक ढग से मनुष्यो को चलना और खाना आता है, उस तरह अहिंसा का पालन नही आता। जिस ससार मे जीवित प्राणी जमीन और खाद्य के लिए निरन्तर प्रतिद्वन्द्विता करते रहते हैं, जिस संसार में एक प्राणी दूसरे प्राणियो को खाकर ही जिन्दा रह सकता है, उसमें अहिंसा का पालन अत्यधिक कठिन है। शायद अपने चरम रूप मे अहिंसा का आदर्श भी, उस आदर्श की तरह रहेगा, जिस पर पहुँच सकने के वजाय, आदमी पहुँचने की चेष्टा ही करेगा।

महात्मा गाधी ने भी इस विषय पर विशद चर्चा की है। उन्होंने खेती को अनिवार्य माना है, सदोष भी माना है, उस दोष की ज्ञान आदि के द्वारा शुद्धि हो जाती है, यह भी माना है और व्यवहार-शास्त्र की दृष्टि से उसे शुद्ध पुण्य कर्म भी माना है—"हिंसा तो सभी समय हिंसा ही रहेगी और हिंसा मात्र पाप है। किन्तु जो हिंसा अनिवार्य हो पड़ती है, उसे व्यवहार-शास्त्र पाप नहीं मानता। इसलिए यज्ञार्थ की गई हिंसा का व्यवहार-शास्त्र अनुमोदन करता है और उसे शुद्ध पुण्य कर्म मानता है[३०७]।" व्यवहार की भूमिका मे इसे पाप सम्भवतः कोई भी नही मानता। भूमिका-भेद और विभिन्न दृष्टिकोणो से देखा जाए तो इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

कृषि सब लोग करें—यह विचार श्रम की प्रतिष्ठा के लिए सहज है पर व्यावहारिक है या नही—इस चर्चा मे यहाँ नहीं जाना है। फिर भी यह स्पष्ट है कि

सामाजिक जीवन परस्पर के सहयोग की भित्ति पर टिका हुआ है। उसके सहयोग का अर्थ विभिन्न श्रमो का विभाजन है—इसीलिए सब खेती करे—यह आग्रह भी विशेष मूल्यवान् नही है। किन्तु वर्तमान स्थिति मे खाद्यान्नो की कमी है। जन-सख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। कृषि-सवर्धन के लिए जनता को प्रोत्साहित करना विशेष अपेक्षित है। इस अपेक्षा को सामयिक धर्म तक ले जाया जाए, वह एक दूसरी बात है किन्तु उसे शाश्वत धर्म—अहिसा-धर्म का रूप न दिया जाए। देह-मुक्ति की साधना को दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न खपाया जाए। परिस्थितिया समाज शास्त्रीय स्तर पर जितने सहज ढग से सुलझ सकती हैं, उतनी सहजता से धर्म शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र को मिश्रित करने पर नही सुलझती।

ऋषि कृषि करे—इस पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। घर से मुक्त होकर ऋषि बने और फिर वह कृषि करे—यह बात व्यवहार में उतनी सरल नहीं है, जितनी हम सोचते हैं। कृषि के पीछे घर की सारी व्यवस्था जुड़ी हुई है। ऋषि कोरा घर ही नही छोड़ता है, वह भूमि भी छोड़ता है और-और साधन-सामग्री को भी छोडता है। ऋषि, अनुत्पादक न हो जाए—यह विचार वर्तमान की परिस्थितियो से उपजा है। सन्यास या मुनि-जीवन की परिकल्पना मे कृषि का स्थान नहीं है, उनका आहार स्वतन्त्र भाव से भिक्षा देने वाले गृहस्थो के इच्छावृत्त आत्म-सकोच से प्राप्त होता है। इसलिए वे उत्पादको पर भार नही बनते। और यह सच है कि वे उत्पादक बनकर जो देहाध्यास का त्याग और देह-मुक्ति चाहते हैं, उसमे लीन नहीं हो पाते।

डा० अलेक्जेण्डर ने लिखा है—"अहिंसा का पालन सब मनुष्यो के लिए समान भाव से कठिन नही है। पुस्तको मे रत पण्डित, भिक्षाचारी साधु, कलाजीवी तथा व्यवसायी भी यदि वे दूसरे मनुष्यो के साथ अपने व्यवहार में न्यायशील हो, निर्दय 'शिकारो' से विरत रहे और नाना प्रकार के उत्पाती कीटाणुओ से समय-समय पर होने वाली छोटी-मोटी विरक्तियो को सहन करने को तैयार हो, तो वे अन्य प्राणियों को प्रत्यक्ष भाव से बहुत ही कम कष्ट पहुचाते हुए अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। लेकिन इन सब लोगो को भी भोजन करना ही पडेगा और यदि उनका भोजन उन खेतो से आता है जहाँ अहिंसा का पालन नही होता, तो भोजन करने में वे परोक्ष हिंसा या परकृत हिंसा का अनुमोदन करते हैं—यद्यपि उन्होने कभी इन खेतों

को नहीं देखा है, और यह जानते भी नहीं हैं कि वहाँ क्या होता है ? लेकिन वे बिल्कुल निर्दोष नहीं माने जा सकते हैं और वे उनके भोजन को उत्पन्न करने वाले किसान के द्वारा की गई अहिंसा के नियमों के व्याघातों के भागी हुए बिना नही रह सकते हैं।"

अनुमोदन की यह परिभाषा उन पर लागू होती है जिन्हे अपने लिए रोटी पकाने, पकवाने, पकाने वाले का अनुमोदन करने का त्याग नही है। जिसने ऐसा त्याग किया है, जिसके जीवन-निर्वाह का एक मात्र विकल्प यही है कि कोई अपने खाने मे से कुछ भाग दे—स्वयं कम खाए, दूसरा बना उसकी पूर्ति न करे—वह खाए वैसा न मिले तो न खाए, अनशन करे वही उसके अनुमोदन से बच सकता है।

तर्क हो सकता है यदि सभी लोग हिंसा से बचने के लिए दूसरो पर निर्भर हो जाएं तो समाज का निर्वाह कैसे हो ? यह तर्क के लिए तर्क है, व्यावहारिक नहीं है। ब्रह्मचर्य की चर्चा छिड़ने पर ऐसा ही तर्क उपस्थित होता है, यदि सब लोग ब्रह्मचारी बन जाए तो यह संसार कैसे चले ? पर सच यह है कि न तो सब लोग ब्रह्मचारी बनते हैं और न सब पूर्ण अहिंसा का ही आग्रह रखते हैं। ये भाव उन्हींमे होते हैं जिनमे विशिष्ट वैराग्य का उदय होता है। यह उदय सब मे कैसे हो सकता है और यदि हो जाएगा तो फिर ऐसा तर्क कोई करेगा ही नहीं।

एक व्यक्ति आश्रित है। फिर भी एक नहीं है। राग, द्वेष, मोह-युक्त विचार या प्रवृत्तिया व्यावहारिक हैं और तद्-वियुक्त विचार एवं प्रवृत्तिया आध्यात्मिक हैं। उदाहरण स्वरूप खाद्य-व्यवस्था, यातायात-व्यवस्था, चिकित्सा-व्यवस्था, सुरक्षा आदि कार्य व्यावहारिक हैं। अहिंसा, सत्य आदि आध्यात्मिक हैं। लोक-व्यवहार मे व्यावहारिक कार्यों का महत्त्व है और आध्यात्मिक दृष्टि से आध्यात्मिक कार्यो का महत्त्व है। इस प्रकार दोनो का कार्यक्षेत्र पृथक्-पृथक् मानने से यथा सम्भव दोनो की स्वतन्त्रता मे कोई बाधा नही आती। जैसा कि एक पादरी के प्रश्न के उत्तर मे महात्मा गाधी ने लिखा है—"राष्ट्र आपके स्वास्थ्य, यातायात, विदेश सम्बन्धी मुद्रा आदि अनेक बातों की देखभाल करेगा, किन्तु मेरे या आपके धर्म की देखभाल नही करेगा[३०८]। यह प्रत्येक व्यक्ति का निजी मामला है।"

जीवन के दो स्रोत हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। ये दोनो......

परिशिष्ट : १ :

टिप्पणियाँ

१—इह मेगेसिं नो सन्ना भवइ, कम्हाओ दिसाओ वा आगओ अहमंसि ? अत्थि मे आया उववाइए वा नत्थि ? के वा अहमंसि ? के वा इओ चुओ इह पेचा भविस्सामि। (आचाराग १–१)

२—अन्नाणी किं काहीइ, किंवा नाहीइ सेय पावगं। (दशवैकालिक ४–१०)

३—पढमं नाणं तओ दया। (दशवैकालिक ४–१०)

४—येनाह नामृता स्या किं तेन कुर्याम्।
यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि॥ (वृहदारण्योपनिषद्)

५—एकोहु धम्मो नरदेवताण, न विज्जए अन्नमिहेह किंचि। (उत्तराध्ययन १४-४०)

६—आत्मा वा रे द्रष्टव्य : श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
(वृहदारण्योपनिषद् २-४-५)

७—तमेव सच्चं णीस्संकं ज जिणेहिं पवेइयं। (भगवती १-३-३०)

८—सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, य पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
(मुण्डकोपनिषद् ३–५)

९—रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात्॥

१०—अभिधेय वस्तु यथावस्थितं यो जानाति यथाज्ञानञ्चाभिधत्ते स आप्तः।
(प्रमाण नयतत्त्वालोक ४–४)

११—से वेमि—अथ ब्रवीमि, (आचारांग १-१-३)

१२—(उत्तराध्ययन २८–२०)

१३—(उत्तराध्ययन २८–२६)

१४—(उत्तराध्ययन २८–२४)

१५—श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय, एते दर्शनहेतवः॥

१६—दव्वाणंसव्वभावा, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धो।
सव्वाहि नयविहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो॥ (उत्तराध्ययन २८–२४)

१७—आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिकारणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थाना, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ (ज्ञानसार)

१८—इह द्विविधा भावाः—हेतुग्राह्या अहेतुग्राह्याश्च। तत्र हेतुग्राह्या जीवास्तित्वादयः, तत्साधकप्रमाणसद्भावात्। अहेतुग्राह्या अभव्यत्वादयः, अस्मदाद्यपेक्षया तत्साधकहेतूनामसंभवात्, प्रकृष्टज्ञानगोचरत्वात् तद्धेतूनामिति।
(प्रज्ञापना वृत्ति पद १)

१९—न च स्वभावः पर्यनुयोगमश्नुते—न खलु किमिह दहनो दहति नाकाशमिति कोऽपि पर्यनुयोगमाचरति।

२०—श्रवणं तु गुरोः पूर्वं, मनन तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्, पूर्णबोधस्य कारणम् ॥ (शुकरहस्य ३—१३)

२१—जो हेउवायपक्खम्मि, हेउओ, आगमेय आगमिओ।
सो ससमयपन्नवओ, सिद्धातविराहओ अन्नो ॥ (सम्मति प्रकरण ४५)

२२—भगवान् का समय ई० पू० ५२७ का है।

२३—(सूत्रकृताग १—१)

२४—तस्य श्रद्धैव शिरः। (तैत्तरीयोपनिषद्)

२५—बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे। (वैशेषिक दर्शन)

२६—योऽवमन्येत मूले, हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो, नास्तिको वेदनिन्दकः ॥(मनुस्मृति २—११)

२७—यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्मं वेद नेतरः। (मनुस्मृति १२—१०६)

२८—(पञ्च वस्तु ४ द्वार)

२९—(लोक तत्त्व निर्णय)

३०—न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ॥
(अयोग व्यवच्छेदिका २९)

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा। (ज्ञानसार)

३१—प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितन्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः। (न्यायसूत्र १—१)

३२—विषयो धर्मवादस्य, तत्तत्तन्त्रव्यपेक्षया।
प्रस्तुतार्थोपयोग्येव, धर्मसाधनलक्षण' ॥ (धर्मवादाष्टक)

३३—(शकर दिग्विजय)

३४—अन्यत एव श्रेयास्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्-सरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम्॥ (वादद्वात्रिंशिका ७)

३५—(महाभारत वनपर्व ३१२-११५)

३६—यत्नानुमितोऽप्यर्थः, कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यै, रन्यथैवोपपद्यते ॥
ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृत' स्यात्तेषु निश्चयः॥
न चैतदेव यत्तस्मात्, शुष्कतर्कग्रहो महान्।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः॥

(योगदृष्टि समुच्चय १४३-१४४-१४५)

३७—सच्च लोगम्मि सारभूय। (प्रश्नव्याकरण २)

३८—सत्यमायतनम्। (केनोपनिषद् चतुर्थ खण्ड ८)

३९—एकाप्यनाद्याखिलतत्त्वरूपा, जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कै.।
तत्राप्यसत्य त्यज सत्यमङ्गीकुरु स्वय स्वीयहिताभिलाषिन्॥

(द्रव्यानुयोगतर्कणा)

४०—(न्यायसूत्र १-१-१, वैशेषिक दर्शन १-१-१)

४१—(सर्व पदार्थ लक्षण संग्रह, पृष्ठ २७)

४२—नानाविरुद्धयुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय वर्तमानो विचारः परीक्षा।

४३—(सूत्रकृताग १-१-१)

४४—(समवायाग)

४५—(षड् दर्शन समुच्चय ७८-७९)

४६—मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषि भवतीति। तेभ्य एवं तर्क-
ऋषिं प्रायच्छन्॰ ॰ ॰ (निरुक्त २-१२)

४७—गुणाणमासओ दव्व। (उत्तराध्ययन २८-६)

४८—सद् दव्वं वा। (भगवती)

४६—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। (तत्त्वार्थ सूत्र ५-२६)

५०—वैशेषिक दर्शनकार ने जहाँ द्रव्य के लक्षण मे क्रिया शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ जैन दर्शन मे पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है—'क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्' (वैशेषिक दर्शन १-१-५, 'गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्' जैनसिद्धान्त दीपिका १-३।)

५१—(पातञ्जल योग, मीमांसा श्लोक वार्तिक पृष्ठ ६१६, शास्त्र दीपिका।)

५२—घटमौलिः सुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वलम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य, जनो याति सहेतुकम्॥

(शास्त्रवार्ता समुच्चय ७ श्लोक २)

५३—(भगवती १३-४-४८१)

५४—एगे धम्मे–एकः प्रदेशार्थतया असख्यातप्रदेशात्मकत्वेऽपि द्रव्यार्थतया तस्यैकत्वात्। (स्थानाग वृत्ति १)

५५—लोयमेत्ते, लोयपमाणे (भगवती २-१०)

५६—(भगवती १३-४)

५७—(भगवती १३-४)

५८—धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात्।
नोलोकः कश्चित् स्या, न्न च सम्मतमेतदर्थाणाम्॥ १॥
तस्माद् धर्माधर्मौ, अवगाढौ व्याप्य लोकखं सर्वम्।
एवं हि परिच्छिन्नः, सिद्ध्यति लोकस्तद् विभुत्वात्॥ २॥

(प्रज्ञापना वृत्ति पद १)

५९—लोकालोकव्यवस्थानुपपत्तेः। (प्रज्ञापना वृत्ति पद १)

६०—यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयः, स स सविपक्षः। यथा घटोऽघटविपक्षकः। यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकः (न्यायालोक)

६१—लोक्यन्ते जीवादयोऽस्मिन्निति लोकः, लोकः—धर्माधर्मास्तिकायव्यवच्छिन्ने, अशेषद्रव्याधारे, वैशाखस्थानकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषोपलक्षिते आकाशखण्डे।

(आचाराग टीका १-२-१)

:—अलोकश्तु भावाद्यैर्भावैः पञ्चभिरुज्झितम्।
अनेनैव विशेषेण, लोकाभ्रात् पृथगीरितम्॥ (लोक प्रकाश २-२८)

६३—तम्हा धम्माधम्मा, लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता।

इयरहा गासे तुल्ले, लोगालोगेत्ति को भेओ ॥ (न्यायालोक)

६४—(भगवती ३-४)

६५—किमय भंते! कालोति पवुच्चइ? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव। (भगवती)

६६—कइण भंते! दव्वा पण्णत्ता? गोयमा! छ दव्वा पण्णत्ता, त जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमए।

(भगवती)

६७—समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा, अजीवाति वा पवुच्चति।

(स्थानाग ९५)

६८—जीवेण भंते! पोग्गली, पोग्गले? जीवे पोग्गलिवि पोग्गलेवि।

(भगवती ८-१०-३६१)

६९—देखो पारिभाषिक शब्दकोष (परिशिष्ट नं० २)

७०—(भगवती १३-४)

७१—(स्थानाग २)

७२—(प्रज्ञापना वृत्ति पद ११)

७३—(प्रज्ञापना वृत्ति पद ११)

७४—(प्रज्ञापना वृत्ति पद ११)

७५—तएण तीसेमेघोघरसिअगभीरमहुरयरसद्दं जोयण परिमंडलाए सुघोसाए घंटाए तिक्खुतो उल्लालिआए समाणीए सोहम्मे कप्पे अण्णेहि सगूणेहिं वत्तीसविमाणावाससयसहस्सेहिं अण्णाइ सगूणाइ वत्तीस घण्टासयसहस्साइ जमगसमगं कणकणाराव काउं पयत्ताइं पि हुत्था। (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ५)

७६—(भगवती १३-४, २-१०)

७७—अजामेकाम्। (सांख्य कौमुदी १)

७८—सोऽनन्तसमयः। (तत्त्वार्थ सूत्र ५-४०)

७९—धम्म अहम्मं आगास, दव्वं एक्केक्कमाहिय।

अणन्ताणिय दव्वाणि, कालो पोग्गल जन्तवो ॥ (उत्तराध्ययन २८-८)

८०—(भगवती २-१०)

८१—(उत्तराध्ययन ३६, स्थानाग २-४)

८२—(भगवती १३-४, लोक प्रकाश २-३)

८३—(उत्तराध्ययन २८, लोक प्रकाश २-५)

८४—(प्रज्ञापना वृत्ति पद १)

८५—(लोक प्रकाश २-५)

८६—(हिन्दी विश्व भारती अंक १ लेख १)

८७—(हिन्दी विश्व भारती अक १)

८८—(हिन्दी विश्व भारती अक १ चित्र १)

८९—कम्मश्रो ए भते ! जीवे, नो अकम्मश्रो विभत्तिभाव परिणमइ, कम्मश्रो णं जए णो अकम्मश्रो विभत्तिभाव परिणमइ। (भगवती १२-५)

९०—कर्मज लोकवैचित्र्य चेतना मानसञ्च तत्। (अभिधान चिन्तामणि कोष)

९१—जो तुल्लसाहणाण फले विसेसो ए सो विणा हेउ कज्जतणश्रो गोयम। घडो व्व हेऊय सो कम्म। (विशेषावश्यक भाष्य)

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथानैकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः॥

९२—क्रियन्ते जीवेन हेतुभिर्येन कारणेन ततः कर्म भण्यते।

९३—ईश्वरः कारण पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्। (न्याय सूत्र ४-१)

९४—अन्तःकरणधर्मत्व धर्मादीनाम्। (साख्य सूत्र ५-२५)

९५—न खलु यो यस्य गुणः स तत्पारतन्त्र्यकृत्। (न्यायालोक)

९६—रूविं पि काये। (भगवती १३-७)
जीवस्स सरूविस्स। (भगवती १७-२)
वण्ण रस पच गन्धा, दो फासा अट्ठणिच्छया जीवे।
णो सति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बधा दो॥ (द्रव्य सग्रह गाथा ७)

९७—रूवी जीवा चेव अरूवी जीवा चेव। (स्थानाग २)

९८—(भगवती ७-१०)

९९—दव्व, खेत्त कालो, भयोय भावो य हेयवो पच।
हेतु समासेणु दश्रो जायइ सव्वाण पगईण॥ (पञ्च सग्रह)

१००—(प्रज्ञापना प० २३)

१०१—जीव खोटा खोटा कर्तव्य करै, जब पुद्गल लागे ताम ।
ते उदय आया दुःख ऊपजे, ते आप कमाया काम ॥
पाप उदय थी दुःख हुवे, जब कोई मत करज्यो रोष ।
किया जिसा फल भोगवे, पुद्गलनो सूँ दोष ॥ (नव सद्भाव पदार्थ)

१०२—कम्म चिणति सवसा, तस्सु दयम्मि उ परवसा होन्ति ।
रूक्ख दुरुहइ सवसो, विगलइ स परवसो तत्तो ॥ (वृहत्कल्प भाष्य १)

१०३—कत्थवि वलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ ।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्व विरुद्धाइ वैराइ ॥
(गणधरवाद अधिकार २ गाथा २५)

१०४—कृतस्याऽविपक्वस्य नाशः—अदत्तफलस्य कस्यचित् पापकर्मणः प्रायश्चित्तादिना नाश इत्येका गतिरित्यर्थः । (पातञ्जलयोग पाद २ सूत्र १३)

१०५—सव्व जीवाण पि य ण अक्खरस्स अणन्तभागो निच्चुग्घाडिओ जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तं पाविज्जा—सुट्ठुविमेह समुदये, होइ पहा चद-सूराण । (सूत्र ४२)

१०६—(प्रज्ञापना लेश्या पद)

१०७—तत्र द्विविधा विशुद्धलेश्या—'उवसमखइय' त्ति, सूत्रत्वादुपशमक्षयजा, केषा पुनरुपशमक्षयौ ? यतो जायत इयमित्याह—कषायाणाम्, अयमर्थः—कषायोपशमजा कषायक्षयजा च, एकान्तविशुद्धिं चाश्रित्यैवमभिधानम्, अन्यथा हि क्षायोपशमिक्यपि शुक्ला तेजःपद्मे च विशुद्धलेश्ये सभवत एवेति ।
(उत्तराध्ययन वृत्ति ३४ अ०)

१०८—त ओ दुग्गइ गामिणिओ, तओ सुगइगामिणिओ । (प्रज्ञापना १७-४)

१०९—किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
तेऊ पम्हा सुक्काए, तिण्णि वि एयाओ धम्म लेसाओ ॥
(उत्तराध्ययन ३४—५६, ५७)

११०—कर्माऽशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् । (पातञ्जलयोग ४ सूत्र ७)

१११—(साख्य कौमुदी पृष्ठ २००)

११२—(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-५)

११३—ब्रह्मणो मुखान्निर्गता ब्राह्मणाः, बाहुभ्या क्षत्रियाः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, अन्त्ये भवा अन्त्यजाः।

११४—कम्मुणा बंभणो होइ, खत्तिओ होइ कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥ (उत्तराध्ययन ३३-२५)
न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होइ, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥
(सुत्त निपात—आग्निक-भारद्वाज सूत्र १३)

११५—तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्। (महाभारत)

११६—अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः।

११७—मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ (महापुराण ३८-४५)

११८—लक्षण यस्य यल्लोके, स तेन परिकीर्त्यते।
सेवकः सेवया युक्तः, कर्षकः कर्षणात्तथा॥
धानुष्को धनुषो योगाद्, धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद्, ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः॥ (पद्मपुराण ६। २०६-२१०)

११९—स्त्रीशूद्रौ ना धीयाताम्।

१२०—न जाति-मात्रतो धर्मो, लभ्यते देहधारिभिः।
सत्य-शौच-तपः-शील-ध्यानस्वाध्यायवर्जितैः॥
सयमो नियमः शील तपो दान दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्या, सा जातिर्महती सताम्॥ (धर्मपरीक्षा १७ परि०)
सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदु भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक २८)

१२१—गोत्तकम्मे दुविहे पण्णत्ते–त जहा—उच्चागोए चेव णीया गोये चेव।
(स्थानाग २-४)

१२२—सताणकमेणागय, जीवामरणस्स गोदमिति सण्णा।
उच्च णीच चरणा, उच्च नीच हवे गोदम्॥ (गोम्मटसार कर्म १३)

१२३—गूयते शब्दते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तत् गोत्रम्, उच्चनीच-कुलोत्पत्तिलक्षणः पर्याय-विशेषः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रम्, कारणे कार्योपचारात्, यद्वा कर्मणोऽ-

पादानविवक्षया गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् तत् गोत्रम्। (प्रज्ञापना वृत्ति २३)

पूज्योऽपूज्योऽयमित्यादि व्यपदेश्यरूपा गा वाच त्रायते इति गोत्रम्।

(स्थानाग वृत्ति २-४)

१२४—उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनम्, इतरद्–विपरीतम्। (स्थानाग वृत्ति १-४)

उच्चम्–प्रभूतधनापेक्षया प्रधानम्। अवचम्–तुच्छधनापेक्षया अप्रधानम्।

(दशवैकालिक दीपिका ५-२-२५)

१२५—समुयाण चरे भिक्खु कुल उच्चावयं सया। (दशवैकालिक ५-२)

१२६—जात्या विशिष्टो जातिविशिष्टः तद्भावो जातिविशिष्टता इत्यादिकम्। वेदयते पुद्गलं वाह्यद्रव्यादिलक्षणम्। तथाहि द्रव्यसम्बन्धाद् राजादिविशिष्टपुरुष-सम्परिग्रहाद् वा नीच-जातिकुलोत्पन्नोऽपि जात्यादि सम्पन्न इव जनस्य मान्य उपजायते। (प्रज्ञापना वृत्ति पद २३)

१२७—(आचाराग वृत्ति १-६, प्रवचन सार १५१ द्वार)

१२८—जातिर्मातृकी, कुलं पैतृकम्। व्यवहार वृत्ति उ० १)

जाई कुले विभासा–जातिकुले विभाषा–विविधं भापणं कार्यम्–तच्चैवम्–जातिर्ब्राह्मणादिका, कुलमग्रादि अथवा मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम्।

(पिण्ड निर्युक्ति ४६८)

१२९—(उत्तराध्ययन ३)

१३०—(सूत्रकृतांग ६-१३)

१३१—(स्थानांग ४-२)

१३२—(स्थानाग ४ २)

१३३—वत्थुसहावो धम्मो, धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो।

मोहकोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ (कुन्दकुन्दाचार्य)

१३४—पुद्गलकर्म शुभं यत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।

(प्रशमरति प्रकरण गाथा २१६)

१३५—श्रुतचारित्राख्यात्मके कर्मक्षयकारणे जीवस्यात्मपरिणामे।

(सूत्रकृताग वृत्ति २-५)

१३६—कर्म च पुद्गलपरिणामः, पुद्गलाश्चाजीवा इति। (स्थानाग वृत्ति ६)

१३७—धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, पुण्यं तत्फलभूत शुभकर्म। (भगवती वृत्ति १-७)

१३८—संसारोद्धरणस्वभावः। (सूत्रकृतांग वृत्ति १-६)

१३९—सौवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्म॥ (समयसार १४६)

१४०—यदशुभ (पुद्गलकर्म) मथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम्।
(प्रशमरति प्रकरण २१९)

१४१—धर्माधर्मौ पुण्यपापलक्षणौ। (आचाराग वृत्ति ४)

१४२—निरवद्य करणीस्यू पुण्य नीपजे, सावद्यस्यू लागे पाप। (नव सद्भाव पदार्थ—पुण्य)

१४३—पुण्यपापकर्मोपादानानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात्। (प्रज्ञापना पद २२)

१४४—योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः।
(सूत्र कृताग वृत्ति २-५-१७ तत्त्वार्थ सूत्र ६-३)

शुद्धाः योगा रे यदपि यतात्मना, स्रवन्ते शुभ कर्माणि।
काञ्चननिगडांस्तान्यपि जानीयात्, हत निर्वृतिशर्माणि॥
(शान्तसुधारस—आश्रव-भावना)

१४५—(भगवती ८-२, तत्त्वार्थ सूत्र ६, नव सद्भाव पदार्थ—पुण्य)

१४६—सुह-असुहजुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा। (द्रव्यसग्रह ३८)

१४७—पुण्णाइं अकुव्वमाणो—पुण्यानि पुण्यहेतुभूतानि शुभानुष्ठानानि अकुर्वाणः।
(उत्तराध्ययन वृत्ति १३-२१)

एवं पुण्णपय सोच्चा—पुण्यहेतुत्वात् पुण्यं तत् पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदं स्थानं पुण्यपदम्। (उत्तराध्ययन वृत्ति १८-३४)

१४८—त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न त विना यद् भवतोऽर्थकामौ। (सूक्तिमुक्तावली)

१४९—प्राज्य राज्यं सुभगदयितानन्दनानन्दनाना,
रम्य रूपं सरसकविताचातुरी सुस्वरत्वम्।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्व सुबुद्धिः,
किन्तु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य॥ (शान्तसुधारस—धर्मभावना)

१५०—ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष, न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते॥ (पातञ्जल योग—२-१३)

१५१—सति मूले तद् विपाको जात्यायुर्भोगाः। (पातञ्जल योग २-१३)

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्। (पातञ्जल योग २-१४)

१५२—जाति—जैन परिभाषा मे नाम कर्म की एक प्रकृति।

१५३—भोग—वेदनीय।

१५४—यत्र प्रतिक्रमणमेव विषप्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।

तत् किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निःप्रमादः॥

(समयसार ३० मोक्षाधिकार)

१५५—पुण्य तणी वाछा किया, लागेछै एकात पाप। (नव सद्भाव पदार्थ ५२)

१५६—नो इह लोगट्ठयाए तव महिट्ठिजा,

नो परलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा।

नो कित्तीवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा,

नन्नत्थनिज्जरट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा। (दशवैकालिक ६-४)

१५७—मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।

काम्यानि—स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि, निषिद्धानि-नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। (वेदान्तसार पृष्ठ ४)

१५८—(उत्तराध्ययन २१-२४)

१५९—(उत्तराध्ययन १०-१५)

१६०—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते (गीता २-५०)

१६१—आस्रवो भव हेतुः स्यात् सम्वरो मोक्षकारणम्।

इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् (वीतराग स्तोत्र १६-६)

१६२—आस्रवो बन्धो वा बन्धद्वारायाते च पुण्य पापे,

मुख्यानि तत्त्वानि संसारकारणानि। (स्थानाग वृत्ति ६)

१६३—जिण पुण्य तणी वाछा करी, तिण वाछया काम ने भोग।

ससार वधै काम भोग स्यू, पामै जन्म-मरणने सोग॥

(नव सद्भाव पदार्थ पुण्य ६०)

१६४—अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष सिनीतः।

तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥

(कठोपनिषद् १-२-१)

१६५—(ऋगुवेद पृथ्वी सूक्त)

१६६—नित्य व्यवहार में 'धर्म' शब्द का उपयोग केवल "पारलौकिक सुख का मार्ग" इसी अर्थमें किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि "तेरा कौन-सा धर्म है ?" तब उससे हमारे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिए किस मार्ग—वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी—से चलता है; और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्ति के लिए साधनभूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय "अथातो धर्म जिज्ञासा" आदि धर्म-सूत्रों में भी धर्मशब्द का यही अर्थ लिया गया है। परन्तु 'धर्म' शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवा राज-धर्म, प्रजा-धर्म, देश-धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म, मित्र-धर्म इत्यादि सांसारिक नीति-बन्धनों को भी 'धर्म' कहते हैं। धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को 'मोक्ष-धर्म' अथवा सिर्फ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल 'धर्म' कहा करते हैं। उदाहरणार्थ, चतुर्विध पुरुषार्थों की गणना करते समय हम लोग "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष," कहा करते हैं। इसके पहले शब्द धर्म में ही यदि मोक्ष का समावेश हो जाता तो अन्त में मोक्ष को पृथक् पुरुषार्थ बतलाने की आवश्यकता न रहती; अर्थात् यह कहना पड़ता है कि 'धर्म' पद से इस स्थान पर संसार के सैकड़ों नीति-धर्म ही शास्त्रकारों के अभिप्रेत हैं। इन्हीको हम लोग आज कल कर्त्तव्यकर्म, नीति, नीति-धर्म अथवा सदाचरण कहते हैं। परन्तु प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में 'नीति' अथवा 'नीति-शास्त्र' शब्दों का उपयोग विशेष करके राजनीति ही के लिए किया जाता है, इसलिए पुराने जमाने में कर्त्तव्यकर्म अथवा सदाचार के सामान्य विवेचन को 'नीति-प्रवचन' न कह कर 'धर्म-प्रवचन' कहा करते थे। परन्तु 'नीति' और 'धर्म' दो शब्दों का यह पारिभाषिक भेद सभी संस्कृत-ग्रन्थों में नहीं माना गया है। इसलिए हमने भी इस ग्रन्थ में 'नीति' 'कर्त्तव्य' और 'धर्म' शब्दों का उपयोग एक ही अर्थ में किया है; और मोक्ष का विचार जिस स्थान पर करना है, उस प्रकरण के 'अध्यात्म' और 'भक्तिमार्ग' ये स्वतन्त्र नाम रखे हैं। महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है; और जिस

स्थान में कहा गया है कि "किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है" उस स्थान में धर्म शब्द से कर्त्तव्य शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्था-शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है, तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है उस स्थान पर, अर्थात् शान्ति पर्व के उत्तरार्ध में, 'मोक्ष-धर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है। इसी तरह मन्वादि स्मृति-ग्रन्थोमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कर्मों, अर्थात् चारो वर्णों के कर्मों को वर्णन करते समय केवल धर्म शब्द का ही अनेक स्थानो पर कई बार उपयोग किया गया है। और भगवद्गीता में भी जब भगवान् अर्जुन से यह कह कर लड़ने के लिये कहते हैं कि "स्वधर्ममपिचाऽवेक्ष्य" (गी० २-३१) तब, और इसके बाद "स्वधर्मे निधन श्रेयः, परधर्मोभयावहः" (गी० ३-३५) इस स्थान पर भी, 'धर्म' शब्द "इस लोक के—चातुर्वर्ण्य के धर्म" के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पुराने जमाने के ऋषियों ने श्रम-विभाग रूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिए चलाई थी कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावे, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दिशाओ से संरक्षण और पोषण भली-भाँति होता रहे। यह बात भिन्न है कि कुछ समय के बाद चारो वर्णो के लोग केवल जाति-मात्रोपजीवी हो गए, अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूल कर वे केवल नाम-धारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ही गए। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में यह व्यवस्था समाज धारणार्थ ही की गई थी; और यदि चारों वर्णों मे से कोई भी एक वर्ण अपना धर्म अर्थात् कर्त्तव्य छोड़ दे, अथवा यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय और उसकी स्थान-पूर्ति दूसरे लोगो से न की जाय तो कुल समाज उतना ही पगु होकर धीरे-धीरे नष्ट भी होने लग जाता है अथवा वह निकृष्ट अवस्था मे तो अवश्य पहुंच जाता है। यद्यपि यह बात सच है कि यूरोप में ऐसे अनेक समाज हैं जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के विना ही हुआ है, तथापि स्मरण रहे कि उन देशो में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था चाहे न हो, परन्तु चारो वर्णों के सब धर्म, जातिरूप से नहीं तो गुण विभागरूप ही से जागृत अवश्य रहते हैं। साराश, जब हम धर्म शब्द का उपयोग व्यावहारिक दृष्टि से करते हैं तब हम यही देखा करते हैं, कि सब

समाज का धारण और पोषण कैसे होता है ? मनु ने कहा है—"असुखोदर्क" अर्थात् जिसका परिणाम दुःखकारक होता है उस धर्म को छोड़ देना चाहिए। (मनु० ४-१७६) और शान्तिपर्व के सत्यानृताध्याय (शा० १०६-१२) में धर्म-अधर्म का विवेचन करते हुए भीष्म और उसके पूर्व कर्णपर्व में भी श्रीकृष्ण कहते हैं:—

धारणाद्धर्ममित्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तः, स धर्म इति निश्चयः॥

"धर्म शब्द धृ (=धारण करना) धातु से बना है। धर्म से सब प्रजा बंधी हुई है। यह निश्चय किया गया है कि जिससे (सब प्रजाका) धारण होता है—वही धर्म है।"

(महा० कर्ण० ६६-५६)

यदि यह धर्म छूट जाय तो समझ लेना चाहिए कि समाज के सारे बन्धन भी टूट गये; और यदि समाज के बन्धन टूटे, तो आकर्षण शक्ति के विना आकाश मे सूर्यादि ग्रहमालाओ की जो दशा होती है, अथवा समुद्र में मल्लाह के विना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की भी हो जाती है। (गी० र० पृष्ठ६४-६६)

१६७—मेहुणधम्माओ विरया। (आचाराग २-१-१-३)

१६८—गामधम्मा इइ मे अणुस्सुय। ग्रामधर्मा शब्दादिविषया मैथुनरूपा वा।

(सूत्र कृताग वृत्ति १-२-२-२५)

१६६—सधए साहुधम्म च, पावधम्म णिराकरे। ·· · पापं पापोपादानकारण धर्मं प्राण्युपमर्दन प्रवृत्त निराकुर्यात्। (सूत्रकृताग वृत्ति १-११-३५)

स्थानाग सूत्र के नवे स्थान मे बताया है कि परिमाण, स्वभाव, शक्ति और धर्म—ये एकार्थक हैं। तथा इसके दसवें स्थान मे दस प्रकार के धर्म बतलाए हैं। वहाँ भी धर्म के अनेकार्थक प्रयोग हैं।

१७०—(मनुस्मृति ८-४१)

१७१—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशक धर्मलक्षणम्॥
·· ·· ·· ते यान्ति परमा गतिम्।

१७२—अहिंसा सत्यमस्तेय, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एते सामासिकं धर्म, चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

१७३—यो यस्य स्वभावः, स तस्य धर्मः। (सूत्र कृताग वृत्ति १-६)

१७४—धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायाः। (स्थानाग वृत्ति २-१)

१७५—न धर्मधर्मित्वमतीव भेदे। (अन्ययोग व्यवच्छेदिका ७)

१७६—(क) दुविहे धम्मे पएणत्ते—त जहा सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव। (स्थानाग २)

(ख) धम्म सरण गच्छामि (बौद्ध)

(ग) अहिंसा सत्यमस्तेय, त्यागो मिथुनवर्जनम्।

पंचस्वेतेषु धर्मेषु, सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः ॥ (वैदिक)

१७७—गम्मपसुदेसरज्जे, पुरवरगामगणगोट्ठिराईण।

सावज्जो उ कुतित्थिय, धम्मो न जिणेहिं उ पसत्थो ॥

(दशवैकालिक निर्युक्ति १-४२)

१७८—कुप्रावचनिक उच्यते—असावपि सावद्यप्रायो लौकिक कल्प एव।

(दशवैकालिक १ निर्युक्ति ३६, ४०, ४१)

१७६—(जैन सिद्धान्त दीपिका ७-२७-२८)

१८०—इच्चेइयाइँ पचमहव्वयाइ अत्तहियट्ठयाए उवसपज्जित्ताणं विहरामि।

(दशवैकालिक ४)

१८१—(पातञ्जल योग २-३०-३१)

१८२—(गीता रहस्य पृष्ठ ४७)

१८३—नहि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते।

तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपर वाधते पुनः ॥

(महाभारत शाति पर्व २५६-१७-१८)

१८४—(साख्य कौमुदी पृष्ठ ६६)

१८५—एक्क चिय एक्कवय, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहि।

पाणाइवायविरमण—सव्वासत्तस्स रक्खट्ठा ॥ (पञ्चसंग्रह)

अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।

एतत्सरणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥ (हारिभद्रीय अष्टक)

१८६—अहिंसा शस्यसरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्। (हारिभद्रीय अष्टक १५।५)

१८७—अहिंसापयसः पालि—भूतान्यन्यव्रतानि यत् ॥ (योग शास्त्र २ प्र०)

१८८—अहिंसा निउणा दिट्ठा—सव्वभूएसु सजमो। (दशवैकालिक ६-८)

१८९—अहिंसा सव्वपाणानां अरियोत्ति पवुच्चइ । (धम्मपद)

१९०—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । (व्यास भाष्य)

१९१—कर्मणा, मनसा, वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः । (गीता टीका)

१९२—(मङ्गल प्रभात पृष्ठ ८१)

१९३—(प्रश्न व्याकरण सूत्र १ स०)

१९४—अनुकम्पा कृपा । यथा सर्वे एव सत्त्वा सुखार्थिनो दुःखप्रहाणार्थिनश्च
ततो नैषामल्पापि पीडामया कार्येति । (धर्म संग्रह अधि० २)

१९५—मूल धम्मस्स दया, तयणुगयं सव्वमेवऽणुट्ठाणं ।
मूलमाद्यकारणं धर्मस्य उक्तनिरुक्तस्य दया-प्राणिरक्षा ।

१९६—प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा, भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूताना, दया कुर्वीत मानवः ॥

१९७—आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्ट, हिंसामन्यस्य नाचरेत् । (योगशास्त्र २-२०)

१९८—अहिंसा सानुकम्पा च । (प्रश्न व्याकरण टीका १ सं०)
अन्न पानं खाद्यं, लेह्य नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभक्तविरतः, सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥

१९९—(उत्तराध्ययन २६-३३)

२००—(अनुयोग द्वार)

२०१—दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सएहिवा । (दशवैकालिक)

२०२—(भगवती ७-६)

२०३—दयाय सजमे लज्जा, दुगुंच्छा अच्छलणाविय ।
तितिक्खाय अहिंसाय, हिरीत्ति एगट्ठिया पदा ॥
(उत्तराध्ययन निर्युक्ति ३ अ०)

२०४—धर्मः··· ··पूर्णदयामयप्रवृत्तिरूपत्वादहिंसामूलः । (उत्तराध्ययन वृत्ति १-११)

२०५—दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं । (सूत्रकृताग १-६)

२०६—अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य ·····जीवानामभयदानं
देहि—जीवाना हिंसा मा कुर्वित्यर्थः (उत्तराध्ययन १८-११)

२०७—त्रिविधे २ छकायजीवाने, भय न उपजावे ताम।

यों अभयदान कह्यों अरिहंता, ते पिणछै दया री नाम। (दया भगवती ६-४)

२०८—तपः कृते प्रशंसन्ति, त्रेतायां ज्ञानकर्म च।

द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ १॥

सर्वेषामपि दानानामिदमेवैकमुत्तमम्।

अभयं सर्वभूतानां, नास्ति दानमतः परम्॥२॥

चराचराणां भूतानामभयं यः प्रयच्छति।

स सर्वभयसन्त्यक्तः, परं ब्रह्माधिगच्छति॥३॥

नास्त्यहिंसासमं दानं, नास्त्यहिंसासमं तपः।

यथा हस्ति पदे ह्यन्यत्, पदं सर्वं प्रलीयते।

सर्वे धर्मास्तथा व्याघ्रः प्रतीयन्ते ह्यहिंसया। (पद्मपुराण १८-४३७-४४१)

२०९—मुत्तूण अभयकरणं, परोवयारोवि नत्थि अण्णोत्ति ··· नय

गिहिवासे अविगलं तं। (पञ्चवस्तुक १ द्वार गा० २२२)

२१०—अभयं प्राणिनां प्राणरक्षारूपं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात् करोत्यभयंकरः।

स्वतो हिंसानिवृत्तत्वेन परतश्च हिंसामाकार्षीरित्युपदेशदानेन प्राणिनामनुकम्पकः

'अभयकरे वीर—अणन्तचक्खु'। (सूत्रकृतांग वृत्ति १-६)

२११—धम्मोवग्गहदाणं; तइयं पुण असण वसण माईणि।

आरंभनियत्ताणं, साहूणं हुंति देयाणि॥ (धर्मरत्न प्रकरण १००)

२१२—न भयं दयते ददाति प्राणापहरणरसिकेऽप्युपसर्गकारिप्राणिनीत्यभयदयः।

अथवा सर्वप्राणिभयपरिहारवती दयाऽनुकम्पा यस्य सोऽभयदयः।

अहिंसाया निवृत्ते, उपदेशदानतो निवर्तके च। (भगवती वृत्ति १-१

२१३—(बृहदारण्योपनिषद् अ० ५ ब्रा० २)

२१४—त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः सञ्चिनोति यः।

स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति॥ (इष्टोपनिषद् १६, पद्मपुराण)

२१५—शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धन्ते; सतामपि न सम्पदः।

नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः, कदाचिदपि सिन्धवः॥

२१६—(पद्मानन्द महाकाव्य)

२१७—(अनुकम्पा की चउपई १-४, ५)

२१८—ऐसा भगवती अहिंसा तस थावर सव्वभूयखेमंकरी ।

(प्रश्नव्याकरण प्र० सं० द्वा०)

२१९—एषैव भगवती अहिंसा, नान्या । यथा लौकिकैः कल्पिता—'कुलानि तारयेत् सप्त, यत्र गौर्वितृषी भवेत् । सर्वथा सर्वयत्नेन भूमिष्ठमुदकं कुरु ।। इह गोविषये या दया सा किल तन्मतेनाऽहिसा, अस्याञ्च पृथ्व्युदकपूतरकादीना हिंसास्तीत्येवंरूपा न सम्यगहिंसेति ।

२२०—(आचाराग १-१-३-२७, १-६-५-१९२, १-७-१-१९६)

२२१—नन्वेवमशेषलोकप्रसिद्धगोदानादिव्यवहारस्त्रुट्यति, त्रुट्यतु नामैवंविधः पापसम्बन्धः । (आचाराग वृत्ति १-१-३-२७)

२२२—(प्रश्न व्याकरण १-४)

२२३—(प्रश्न व्याकरण ३-१२)

२२४—(आचाराग ४-२)

२२५—(आचाराग ४-२)

२२६—(आचाराग १-१-२)

२२७—(सूत्रकृताग वृत्ति १-३-४-६, ७)

२२८—(सूत्र कृताग ३-४-६, ७)

२२९—सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि, दुःखाच्च सर्वाणि समुद्विजन्ति ।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि ।।

(सूत्र कृताग वृत्ति से उद्धृत)

२३०—"यज्ञे हिंसितः पशुर्दिव्यदेहो भूत्वा स्वर्गं लोकं याति ।" अतिशयिताऽभ्युदयसाधनभूतो व्यापारोऽल्पदुःखदोऽपि न हिंसा प्रत्युत् रक्षणमेव, तथा च मन्त्रवर्णः "न वा उ एतन् म्रियसे मरिष्यसि देवा निदेषि पथिभिः सुगेभिः । यत्र सन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु इति ।" यजुर्वेद अ० २३ मं० १६ हिंसनीया ननु ग्राहकप्राणवियोगकरव्यापारस्यैव हिंसात्वं न यागीयपशुप्राणवियोगानुकूल व्यापारस्य तस्य पश्वनुग्रहकरत्वात् । (साख्य कौमुदी)

२३१—(साख्य कौमुदी पृष्ठ ४४-४५)

२३२—सा चानुकम्पा द्रव्यभावाभ्या द्विधा—द्रव्यतो यथा अन्नादिदानेन, भावतस्तु धर्ममार्गप्रवर्तनेन । (धर्मरत्न प्रकरण)

२३३—(भगवती ८-६)

२३४—(स्थानांग १०)

२३५—जेयदाण पसंसति वह मिच्छंति पाणिणो,
जेयणं पडिसेहंति वित्तिच्छेयं करति ते ॥ २० ॥
दुहओ वि तेण भासति-अत्थि वा णत्थिवा पुणो,
आय रहस्स हेच्चाण निव्वाणं पाउणंति ते ॥ २१ ॥

एनमेवार्थ पुनरपिसमासतः स्पष्टतरविभणिपुराह—“जेदाणमित्यादि—येकेचनप्रपा-मत्रादिक दान बहूना जन्तूनामुपकारीतिकृत्वाप्रशसन्ति (श्लाघन्ते) ते परमार्थानभिज्ञाः प्रभूततरप्राणिना तत्प्रशसाद्वारेण वधं (प्राणातिपात) इच्छन्ति। तद्दानस्यप्राणा-तिपातमन्तरेणाऽनुपपत्तेः। ये च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येव मन्यमाना आगमसद्भा-वाऽनभिज्ञाः प्रतिषेधन्ति (निषेधयन्ति) तेप्यगीतार्थाः प्राणिना वृत्तिच्छेद वर्त्तनोपाय-विघ्न कुर्वन्ति” ॥ २० ॥ “तदेव राजा अन्येन चेश्वरेणकूपतड़ागसत्रदानाद्युद्यतेन पुण्य-सद्भाव पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्यद्विधेय तद्दर्शयितुमाह। दुहओवीत्यादि—यद्यस्तिपुण्यमित्येवमूचु-स्ततोऽनन्तानां सत्वाना सूक्ष्मबादराणा सर्वदाप्राणत्याग एव स्यात्। प्रीणनमात्रन्तु पुनः स्वल्पाना स्वल्पकालीयम्—अतोऽस्तीति न वक्तव्यम्। नास्तिपुण्यमित्येव,प्रतिषेधेऽपि तदर्थिनामन्तरायः स्यात्। इत्यतो द्विधाप्यस्तिनास्तिवा पुण्यमित्येवं ते मुमुक्षवः साधवः पुनर्नभाषन्ते। किन्तु—पृष्टैः सद्भिर्मौनमेवसमाश्रयणीयम्। निर्बन्धेत्वस्माक द्विचत्वा-रिंद्दोषवर्जित आहारः कल्पते। एवं विषये मुमुक्षूणामधिकार एव नास्तीति युक्तम्।

सत्य वप्रेषुशीलं शशिकरधवल वारि पीत्वा प्रकामं,
व्युच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रमुदितमनसः प्राणिसार्था भवन्ति।
शेषं नीते जलौघे दिनकरकिरणैर्यान्त्यनन्ता विनाश,
तेनोदासीनभावं व्रजति मुनिगणः कूपवप्रादिकार्ये ॥ १ ॥

तदेवमुभयथापि भाषिते रजसः कर्मण आयोलाभो भवतीत्यतस्तमाय रजसो—मौनेनाऽनवद्य भाषणेन वाहित्वा (त्यक्त्वा) तेऽनवद्यभाषिणो निर्वाणं—मोक्ष प्राप्नु-वन्ति ॥ २१ ॥ (सूत्रकृताग वृत्ति ११-२०-२१)

२३६—आगमविहिअणिसिद्धे, अहिगिच्च पसंसणे णिसेहे अ।
लेसेण विणो दोसो, एस महावक्क गम्मत्थो।

आगमे सिद्धान्ते विहितं निषिद्ध च दानमधिकृत्य प्रशंसने निषेधे च लेशेनापि न दोषः। सत्प्रवृत्तिरूपस्य विहितदानव्यापारस्य हिंसारूपत्वाऽभावेन तत्प्रशंसने हिंसानुमोदनस्याप्रसङ्गात्। प्रत्युत सुकृताऽनुमोदनस्यैव सम्भवात् निषिद्धदान-व्यापारस्य च असत्प्रवृत्तिरूपस्य निषेधे वृत्तिच्छेदपरिणामाभावेनान्तरायानर्ज-नात्। प्रत्युत् परहितार्थप्रवृत्त्यान्तरायकर्मविच्छेद एव। तदिदमुक्तमुपदेशपदे—
"आगमविहिअ त त पडिमिद्ध चाहिगिच्च णो दोसो वि।

(उपदेश रहस्य १७२)

२३७—अतिहि समणो तस्सन्नापाणाइ सम्मापणं। सक्कारज्जेहिं अइहि सविभागे पकित्तिओ। (उपासक दशा वृत्ति १)

अतिथिः साधुरुच्यते। (धर्म संग्रह ३ अधि०)

अतिहिंसविभागो नाम आयाणुग्गह बुद्धीए सजयाण दाण।

(आवश्यक बृहद् वृत्ति अ० ४)

२३८—(निशीथ चूर्णि २ उ)

२३९—समणो वासएण भन्ते। तहारुव समण वा माहण वा पासुएसणिज्जेण असण-पाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति? गोयमा! एगतसो निज्जरा कज्जइ नत्थि य से पावे कम्मे कज्जति। (भगवती ८-६)

२४०—समणो वासगस्सण भन्ते। तहारूव असंजय अविरए अपडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे पासुएण वा अपासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण-पाण जाव किं कज्जइ? गोयमा! एगतसो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निजरा कज्जइ। (भगवती ८-६)

२४१—जे भिक्खु अण्णउत्थिएण गारत्थिएण वा असणवा ४ देयइ देयन्त वा साइज्जइ। (निशीथ-१५-७८)

२४२—संजयासंजये धम्माधम्मे ठिए धम्माधम्म उवसंपज्जिताण विहरइ।

(भगवती १७-२-३)

२४३—त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनदानमिति प्रथमः • सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। (छान्दोग्योपनिषद् २-२३-१)

२४४—श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। (तैत्तरीयोपनिषद् १-११-३)

२४५—तिहिं ठाणेहि जीवा सुभदीहाउ अत्ताते कम्म पगरेति, तं जहा-णो पाणे अतिवातित्ता भवइ णो मुस वइत्ता भवइ तहारूवं समण वा माहण वा वदित्ता नमसित्ता सक्कारित्ता समाणेत्ता कल्लाण मगलं देवत चेतितं पज्जुवासेन्ता मणुन्नेण पीतिकारएण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहि तिहिं ठाणेहि जीवा सुहदीहाउ तत्ता ते कम्मं पगरेति। (स्थानाग ३-१२५)

समणो वासएण भन्ते तहारूव समण वा जाव पडिलाभेमाणे किं चयति ? गोयमा। जीविय चयति दुच्चय चयति दुक्कर करेति दुल्लहं लहइ वोहिं बुज्झइ तओ पच्छा सिज्झति जाव अन्त करेति। (भगवती २६३)

२४६—मोक्खत्थ ज दाण त पइ एसो विही समक्खाउ। (ज्ञानविन्दु प्रकरण पृ० ७८)

२४७—दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सुग्गइ॥ (दशवैकालिक ५-१-१००)

२४८—(भगवती ८-६)

२४९—ऐन्द्रशर्मप्रदं दान, मनुकम्पासमन्वितम्।
भक्त्या सुपात्रदान तु, मोक्षद देशितं जिनैः। (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १)
अभय सुपत्तदाण, अणुकम्पा उचिअ कित्तिदाण च।
दोहि वि मुक्खो भणियो, तिन्नि वि भोगाइयं दिंति॥
(उपदेश तरङ्गिणी पृष्ठ १५)

२५०—इसका विशेष वर्णन 'धर्म और पुण्य' शीर्षक मे देखो।

२५१—(छान्दोग्योपनिषद् २-२३-१)

२५२—पुण्णठा पगड इम सजयाण अकप्पिय।
दिंतिय पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं। (दशवैकालिक ५-४६)

२५३—"पात्रायान्नदानाद् यत्तीर्थकर्मनामादिपुण्यप्रकृतिवन्धस्तदन्नपुण्यम्, एवं सर्वत्र।"
(स्थानांग वृत्ति ९)

२५४—अथ दीनादीनामसयतत्वात् तद्दानस्य दोषपोषकत्वादसंगत तद्दानमित्याशङ्कयाह— (पञ्चाशक ९ वि०)

२५५—असयताय शुद्धदानम्, असयतायाऽशुद्धदानमित्यभिलापाः। शेषौ तृतीयचतुर्थभङ्गौ अनिष्टफलदौ एकान्तकर्मवन्धहेतुत्वान्मतौ। शुद्धं वा यदशुद्ध-चाऽसंयताय प्रदीयते। (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १-२१)

गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्म—वन्धकृन्नानुकम्पया ॥ न पुनरनुकम्पया, अनुकम्पा-दानस्य क्वाप्यनिषिद्धत्वात् । "अणुकपादाण पुण, जिणेहि कयाइ पडिसिद्ध । इतिवचनात् । (द्वात्रिंशिद् द्वात्रिंशिका १-२७)

२५६—(*स्थानाग १०*)

२५७—सव्वेहि पि जिणेहि; दुज्जयतियरागदोसमोहेहि ।
अनुकपादाण सड्ढयाण न कहि वि पडिसिद्ध ॥ (धर्मसग्रह २ अधि०)

२५८—श्रीजिनेनापि सावत्सरिकदानेन दीनोद्धारः कृत एव । (धर्मसग्रह २ अधि०)

२५९—(उपदेशपर्द)

२६०—तीर्थकृद्दीयमाने वरघोषणाया सत्या श्रावको योपिच्च तद्दान गृहीतः, न वेति प्रश्ने उत्तरम्—तीर्थकृद्दानसमये ज्ञाताधर्मकथादिषु सनाथानाथपथिककार्पटिका-दीना याचकादीना ग्रहणाधिकारो दृश्यते, न तु व्यवहारिणाम्, तेन श्रावकोऽपि कश्चिद् याचकीभूय गृह्णाति तदा गृह्णातु । (सेनप्रश्नोत्तर ३ उल्ला०)

२६१—उच्यते कल्प एवास्य. तीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयात् सर्वसत्त्वाना, हित, एव प्रवर्तते ॥ (हारिभद्रीय २ अष्टक)

२६२—अवगुय दुवारा, (भगवती २-५, सूत्रकृताग २-२ तथा २-७)

२६३—अपावृतद्वाराः कपाटादिभिरस्थगितद्वारा इत्यर्थः । सद्दर्शनलाभेन न कुतोऽपि पाषडिकाद् बिभ्यति शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटशिरसस्तिष्ठन्तीति भावः ।
(भगवती वृत्ति २-५)

२६४—ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणाना समक्षत ।
अन्तर्वेद्या हि यद् दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥
वापीकूपतडागानि, देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमेतत्तु, पूर्तं तत्त्वविदो विदु ॥

२६५—स्तोकानामुपकार स्यादारम्भाद् यत्र भूयसाम् ।
तत्रानुकम्पा न मता, यथेष्टापूर्तकर्मसु ॥ (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १-४)

२६६—पुष्टालम्बनमाश्रित्य, दानशालादि कर्म यत् ।
तत्तु प्रवचनोन्नत्या, बीजाधानादिभावतः ॥ (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १-५)

२६७—बहूनामुपकारेण, नानुकम्पा निमित्तताम् ।
अतिक्रामति तेनात्र, मुख्यो हेतु शुभाशयः ॥ (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १-६)

२६८—याज्ञिकी हिंसा न दुष्यति, तस्या वैधत्वात्। पापजनकतापेक्षया पुण्यजनकता-
यास्तत्र बाहुल्यात्।

२६९—(नन्दी वृत्ति पृष्ठ १३)

२७०—(गीता रहस्य पृ० १२७)

२७१—(हिन्दी विश्व भारती २२ अक्टूबर १९५०)

२७२—नो वि पये न पयावए जे स भिक्खु। (दशवैकालिक १०-४)

२७३—यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्य स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः, साध्वाचारः साधुनैवाभ्युपेयः॥

२७४—नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। (मनुस्मृति ८-५१)

(महाभारत शान्ति पर्व १०९-२९)

२७५—ये त्वनार्या न शिष्याः स्यु नन्तित्वेवाततायिनः।
क्षिप्र व्यापादनीयास्ते, तद्वधो नहि दोषदः॥

२७६—क्वचिद्दया निर्दयता क्वचित्।

२७७—"दाए दाइ" दायकाना गोत्रिकाणा दायधनविभाग परिभाज्य विभागशो दत्त्वा
तदावनो अनाथपान्थादियाचकानामभावाद् गोत्रिकाग्रहण तेऽपि च भगवत्प्रेरिता
निर्ममाः सन्तः शेषमात्र जगृहु'। इदमेव हि जगद्गुरोर्जीत यदीच्छावधिदान
दीयते तेषा च इयतैव इच्छापूर्ते'। ननु यदीच्छावधिक प्रभोर्दान तर्हि एद-
युगीनो जन।
एकदिनदेय सर्वस्वदेय वा एक एव जिघृक्षेत् इच्छाया अपरिमितत्वात्। सत्य
प्रभुप्रभावेण एतादृशेच्छाया असभवात्। (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २ वक्ष०)

२७८—दत्तिव्व दाणमसुभ, दित्त दट्ठु जणम्मि वि पयत्त।
जिण भिक्खा दाण पि य, दट्ठु भिक्खा पयत्ता उ॥

दत्तिर्नाम दान तच्च भगवन्तमृषभस्वामिन सावत्सरिक दान ददत दृष्ट्वा लोकेऽपि प्रवृत्तम्। यदि वा दत्तिर्नाम भिक्षादान तच्च जिनस्य भिक्षादान प्रपौत्रेण कृत दृष्ट्वा लोकेऽपि भिक्षा प्रवृत्ता। लोका अपि भिक्षा दातु प्रवृत्ता इति भावः।

(आवश्यक मलय गिरि प्र० ५९)

२७९—'दाण च माहणाण, दानं च माहनाना लोको दातु प्रवृत्तो भरतपूजितत्वात्।

(आवश्यक मलय गिरि प्र० ५९)

२८०—पात्रापात्रविभेदोऽस्ति, धेनुपन्नगयोरिव ।
तृणात् संजायते चीर, चीरात् सजायते विपम् ॥
२८१—अतस्था लिङ्गिनः पात्रमपचास्तु विशेषतः ।
स्वसिद्धान्ताविरोधेन, वर्तन्ते ये सदैव हि ॥ (योगविन्दुसार १२२)
पात्रे दीनादिवर्गे च, दानं विधिवदीष्यते ।
पोष्यवर्गाविरोधेन, न विरुद्ध स्वतश्च यत् ॥ (योगविन्दुसार १२१)
दीनान्धकृपणा ये तु, व्याधिग्रस्ता विशेषतः ।
निःस्वा· क्रियान्तराशक्ता, एतद् वर्गो हि मीलकः ॥ (योगविन्दुसार १२३)
अपात्रदानतः किञ्चिन्न फल पापतः परम् ।
लभ्यते हि फल खेदो, वालुकापुञ्जपीडने ॥ (अमितगति श्रावकाचार ११-६०)
विश्राणितमपात्राय, विधत्तेऽनर्थमूर्जितम् ।
अपथ्य भोजन दत्ते, व्याधिं किन्न दुरुत्तरम् ॥ (अमितगति श्रावकाचार ११-६१)
वितीर्य यो दानमसयतात्मने, जनः फलं काङ्क्षति पुण्यलक्षणम् ।
वितीर्य वीज ज्वलिते स पावके, समीहते शस्यमपास्तदूषणम् ॥
(अमितगति श्रावकचार १०-५४)
दाण न होइ अफल, पत्तमपत्तेसु सन्निजुज्जत ।
इयवि भणिए विदोसा, पसस्रो किं पुण अपत्ते ॥ (पिण्ड निर्युक्ति ४५५)
वीज यथोवरे क्षिप्त, न फलाय प्रकल्प्यते ।
तथाऽपात्रेषु यद्दान, निष्फल तद् विदुर्बुधा· ॥
२८२—वीतरागोऽपि सद्वेद्य—तीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयेन तथा धर्म—देशनाया प्रवर्तते ॥ (हारिभद्रीय अष्टक ३१-१)
तओण समणे भगव महावीरे उप्पन्नवरनाणदसणधरे अप्पाण च लोग च अभिसमिक्ख, पुव्व देवाण धम्ममाइक्खइ ततो पच्छा मणुस्साण । (आचाराग २)
२८३—(उपासकदशा १ अ०, औपपातिक सम० द्वार०)
२८४—अग्ग च मूल च छिन्दि । (आचाराग ३-२-६)
२८५—तमेव धम्म दुविह आइक्खइ, त जहा—अगारधम्म, अणगारधम्मं च ।
(औपपातिक सम० द्वा०)
१—(जड़वाद पृष्ठ ५५)

२८७—आत्मास्तित्वमूलत्वात् सकलधर्मानुष्ठानस्य। (उत्तराध्ययन बृहद वृत्ति १४-१७)

२८८—(दशवैकालिक ६-४१)

२८९—(उत्तराध्ययन ६-४१-५३)

२९०—(उत्तराध्ययन १४-१६-१७)

२९१—(अहिंसा भाग १ पृष्ठ ३५, ३६)

२९२—(अहिंसा भाग १ पृष्ठ ३५, ३६)

२९३—(उत्तराध्ययन २६-४)

२९४—"दर्शन और चिन्तन" (जैनधर्म और दर्शन, पृष्ठ १४६ १४७)

२९५—(वही पृष्ठ ३)

२९६—(भगवती सूत्र ८)

२९७—(अमितगति श्रावकाचार)

२९८—(अमितगति श्रावकाचार, आचाराग टीका आदि-आदि।)

२९९—(मनुस्मृति ३-६८)

३००—(भूदान १७ अप्रैल १९५९ का पेज ७ वॉ)

३०१—(बारह व्रत की चौपाई, ढाल पहली १-१३)

३०२—पयाहियाए उवदिसइ (जम्बूद्वीप २)

३०३—कर्माणि च कृपिवाणिज्यादीनि, जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि।
त्रीण्येतानि प्रजाया हितकराणि, निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वात्॥
(जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति३)

३०४—एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्त्तव्यमात्मनः॥
(त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र १-२-९७)

३०५—(तत्त्वार्थ राजवार्तिक ३-३६)

३०६—(एकआस्रव प्रथम द्वार)

३०७—(अहिंसा १ पृष्ठ ५३)

३०८—(हिन्दुस्तान दैनिक, नई दिल्ली, शनिवार २१ सितम्बर, १९४६)

परिशिष्ट : २ :

पारिभाषिक शब्द कोष

अघाती-कर्म (पृ० २२)—वे कर्म, जो आत्मा के मूल गुणो का नाश न करें। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य—ये चार अघाती कर्म हैं।

अचित्त महास्कन्ध (पृ० १४)—केवलीसमुद्घात के पाचवें समय मे आत्मा से छूटे हुए पुद्गल जो समूचे लोक में व्याप्त होते हैं, वे।

अणुव्रत (पृ० ५६, ६६)—छोटे व्रत, वे व्रत, जो अवधि-सहित ग्रहण किए जाते हैं।

अतिथि-सविभाग व्रत (पृ० ४८)—अतिथि का अर्थ है—साधु-श्रमण। आत्मा की अनुग्रह बुद्धि से पाच महाव्रतधारी मुनि को दान देना अतिथि-सविभाग है। यह श्रावक का वारहवॉ व्रत है।

अदृष्ट (पृ० १८)—सञ्चित कर्म, मीमासको की परिभाषा में 'अपूर्व'।

अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्म (पृ० २२) वह कर्माशय जिसका फल तत्काल नहीं होता।

अधर्मदान (पृष्ठ ४८,५३)—वह दान जिससे अधर्म—पाप की वृद्धि हो।

अनात्मवादी (पृ० ६५,६७,७२)—आत्मा को नहीं मानने वाला, नास्तिक।

अनास्रव (पृ० २१)—कर्म-वन्धन से मुक्त।

अनिवार्य हिंसा (पृ० ६८)—ऐसी हिंसा जिसके विना जीवन का निर्वाह न हो।

अनुकम्पा (पृ० ३३,३६,४०,४४,५३,५४,५५,५७)—दया, करुणा जनक दृश्य देख कम्पित होना।

अनुकम्पा दान (पृ० ४८,५०,५३,५८)—किसी व्यक्ति की दीनावस्था से द्रवित होकर उसके भरण-पोषण के लिए दिया जाने वाला दान।

अनुभाग (पृ० २२)—कर्मों का विपाक फल, रस आदि।

अन्तराय (पृ० ४८)—विघ्न, वाधा।

अन्तराय कर्म (पृ० २२)—दान आदि मे वाधा डालने वाला कर्म।

अन्नदान (पृ० ४८)—एक प्रकार का लौकिक दान। अन्न का दान करना।

अन्न-पुण्य (पृ० ५१)—संयमी को अन्न देने से होने वाला पुण्य।

अपश्चानुपूर्वी (पृ० २०)—जो न पहले हो और न पीछे।

अपात्र (पृ० ५८)—जो व्यक्ति जिस कार्य के लिए योग्य न हो, वह उस कार्य के लिए 'अपात्र' कहलाता है।

अभयदय (पृ० ४२)—अभयदान देने वाला।

अभयदान (पृ० ४०,४१,४२,४८,५३)—दूसरो को भय-मुक्त करना और स्वयं भय-मुक्त होना।

अभव्य (पृ० ३)—वह जीव जिसमे मुक्त होने की योग्यता नही होती।

अभिनिवेश (पृ० ३)—आग्रह, मिथ्यात्व।

अभिवचन (पृ० ४७)—कथन।

अभ्युदय (पृ० १,७,३५, ६७,७२)—भौतिक समृद्धि, लौकिक विकास।

अमूर्त्त (पृ० ११,१३,२०,२२)—जिसमे रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श आदि न हो।

अरिहन्त (पृ० ३६)—पाच पदो मे पहला। जो राग, द्वेष, मोह आदि शत्रुओ का क्षय कर वीतराग बन जाते हैं।

अविद्या पृ० १८)—अनादि-अज्ञान, माया, जिससे चेतन तत्त्व अनादि काल से आच्छन्न हो रहा है।

अविरत (पृ० ४४)—अत्याग वृत्ति।

अविहित-अनिषिद्ध (पृ० ५६)—जिस कार्य के आचरण का न विधान हो और न निषेध।

अव्रत (पृ० ४४)—अत्यागभाव।

अशुक्ल-अकृष्ण (पृ० २५)—योगदर्शन मे वर्णित कर्म की एक जाति। तप, ध्यान आदि कर्मो के फल की इच्छा न करने तथा निषिद्ध कर्मो को न करने की योगियो की वृत्ति।

अशुभ आयुष्य (पृ० ३१)—कष्टपूर्ण आयु, अल्प आयु।

अशुभ नामकर्म (पृ० ३४,३६)—जिसके उदय से वदनामी हो।

अशुभ योग (पृ० ३४)—मन, वचन और काया की पापमय प्रवृत्ति।

असयति-दान (पृ० ४८,५०,५२,५३,५८)—सयमहीन व्यक्तियो को दिया जाने वाला दान।

असात वेदनीय (पृ० ३१) जिस कर्म से दुःख की अनुभूति हो।

[illegible]स्तिकाय (पृ० १४,१५)—प्रदेशों का समूह।

[illegible]त (पृ० १२)—अस्तित्व।

अहिंसा (पृ० ३३, ३६,३७,,३८,३९,४०,४१,४२,४३,४४,४७,४८,५७,६८,७०, ७१,७२)—प्राणीमात्र के प्रति सयम रखना, उनको कष्ट न पहुचाना तथा उनके प्रति मैत्री रखना।

आगम (पृ० ३,४,८,९,१५,१४,३४,४४)—आप्त पुरुष के वचन से होने वाला अर्थ-बोध। 'जैन सूत्र' आगम कहलाते हैं।

आज्ञा-रुचि (पृ० ६)—जिस मनुष्य के राग, द्वेष, मोह और अज्ञान दूर हो जाते हैं और जो आज्ञा—भगवत् प्रवचन मे रुचि रखता है, वह।

आत्मवादी (पृ० ६५,६७,७२)—आत्मा को मानने वाला, आस्तिक।

आत्मौपम्य (पृ० ६९)—आत्म-सदृशता।

आनन्द श्रावक (पृ० ७०)—भगवान् महावीर का बारह व्रतधारी श्रावक।

आरम्भ (पृ० ३६,५३,५४)—हिंसा।

आर्त्तध्यान (पृ० ७०) रोगादि कष्टो मे व्याकुल होना तथा वैषयिक सुख पूर्ति के लिए दृढ़ सकल्प करना।

आलय-विज्ञान (पृ० १४)—चित्त, आलय का अर्थ घर है। चित्तरूपी घर मे सभी विज्ञान पड़े रहते हैं और व्यवहार के समय वे प्रवृत्ति-विज्ञान कहलाते हैं। व्यवहार के बाद वे पुनः इसी में लीन हो जाते हैं।

आवलिका (पृ० १३)—सर्व सूक्ष्म काल-विभाग को समय कहते हैं। ऐसे असख्य समयो की एक आवलिका होती है ४८ मिनटो की १, ६७, ७७, २१६ आवलिकाएँ होती हैं।

आशीविष सर्प (पृ० ६५)—जिसकी दाढा मे विष हो।

आस्तिक (पृ० ६३)—वह व्यक्ति जो बन्धन, बन्धन-मुक्ति और मोक्ष-मार्ग मे विश्वास करता है।

आस्तिक दर्शन (पृ० १८,२०)—वह दर्शन-पद्धति जिसमे आत्मा, स्वर्ग, नरक, कर्म आदि का विचार हो।

आस्रव (पृ० १७,१८,३३,३४)—जीव का जो परिणाम शुभ तथा अशुभ कर्म-पुद्गलो को आकृष्ट कर उनको आत्म-प्रदेशो के साथ घुला मिला देता है, उसे आस्रव—कर्मागमन का द्वार कहते हैं।

इष्टापूर्त (पृ० ५३)—यज्ञ और जलाशय आदि वनाना।

उच्छेदवाद (पृ० ४)—आत्मा का विनाश मानने वाला वाद, पुनर्जन्म को अस्वीकार करने वाला दर्शन।

उत्पाद (पृ० ६)—त्रिपदी (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) का पहला पद।

उदय (पृ० १६,२१,२२,२३,२४,२५,३१)—कर्म की एस अवस्था। उदीरणा करण के द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से आठो कर्मों का अनुभव होना।

उदीरणा (पृ० २२)—कर्म की एक अवस्था। निश्चित समय से पहले कर्मों का उदय होना।

उपशम (पृ० २३,२४,२५)—उदयावलिका मे प्रविष्ट मोह-कर्म का क्षय हो जाने पर अवशिष्ट मोह-कर्म का सर्वथा अनुदय होना।

एषणीय (पृ० ४६)—शुद्ध।

औदयिक (पृ० २५)—कर्म के उदय के द्वारा होने वाली आत्म-अवस्था।

औपशमिक (पृ० २५)—उपशम से होने वाली आत्म-अवस्था।

कन्यादान (पृ० ६६)—कन्या का दान।

करिष्यति दान (पृ० ४८)—लाभ के वदले की भावना से दिया जाने वाला दान।

करुणा (पृ० ६६)—अनुकम्पा।

कर्म (पृ० १५,१८,१६,२०,२१,२२,२८,२६,३०)—आत्मा की सत् एव असत् प्रवृत्तियो के द्वारा आकृष्ट एव कर्म रूप मे परिणत होने योग्य पुद्गल।

कर्म (पृ० २७)—कार्य।

कर्म प्रकृति (पृ० २३)—कर्मो का स्वभाव।

कलि (पृ० ३७,४१)—कलियुग—युग का एक विभाग।

कापोत लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—कापोत वर्ण वाले पुद्गलो के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय। अशुभ-अधर्म-अप्रशस्त लेश्या।

काम भोग (पृ० ६५,६६)—जिनकी कामना की जाती है और जो भोगे जाते हैं, वे शब्द आदि इन्द्रियो के विषय।

कारुण्य-दान (पृ० ४८)—शोक के सम्वन्ध मे दिया जाने वाला दान।

ोदधि—(पृ० १६)—धात की खण्ड को परिवेष्टित करने वाला समुद्र।

कुपात्र (पृ० ५८)—देखो 'अपात्र'।

कुप्रावचनिक धर्म (पृ० ३६)—जैनेतर धर्म।

कुल (पृ० ३१, ३२)—वश, गोत्र, घराना, एक जाति वालो का समूह।

कुल-धर्म (पृ० ३६)—अपने-अपने कुल की मर्यादाए।

कृत (पृ० ३७)—युग का एक विभाग।

कृत-दान (पृ० ४८)—किये हुए उपकार को याद कर दिया जाने वाला दान।

कृष्ण (पृ० २५)—योग दर्शन मे वर्णित कर्म की एक जाति। दुर्जन व्यक्तियो के कर्म।

कृष्ण लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—कृष्ण–पुद्गलो के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय। अशुभ-अधर्म-अप्रशस्त लेश्या।

क्रमभावी गुण (पृ० ६)—पर्याय।

क्लेश (पृ० १८)—विपर्यय, अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये पाच साख्याभिमत क्लेश हैं।

क्लेश (पृ० ३८)—कलह।

क्लेशाशय (पृ० ३३)—क्लेश का स्थान, क्लेश-सस्कार।

गण-धर्म (पृ० ३६)—गण (कुल-समूह) की समाचारी—आचार-मर्यादा।

गति तत्त्व (पृ० १०,११)—धर्मास्तिकाय का अपर नाम।

गमक (पृ० ३२)—बोध कराने वाला।

गम्य धर्म (पृ० ३६)—वह लौकिक व्यवस्था जिसका सम्बन्ध अमुक अमुक से विवाह कर सकने या न कर सकने से होता है।

गारवदान (पृ० ४८)—यश-गान सुनकर एव बराबरी की भावना से दिया जाने वाला दान।

गुप्ति (पृ० ६६)—निग्रह।

गोत (पृ० ३०)—गोत्र।

गोष्ठी-धर्म (पृ० ३६)—गोष्ठी की आचार-व्यवस्था।

ग्राम-धर्म (पृ० ३५,३६)—गॉव की व्यवस्था (आचार-परम्परा)।

घाती कर्म (पृ० २२,२३,२४)—जो कर्म आत्मा के मूल गुण–ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की घात करे, वे। घाती कर्म चार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीयकर्म और अन्तराय कर्म।

चारित्र (पृ० २३,३६)—आचार।

चेतना सन्तति (पृ० १४)—चित्त की परम्परा।

छह काय (पृ० ४०,४६)—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रसकाय।

छाया (पृ० १४)—चेतन या अचेतन पदार्थों से प्रत्येक समय निकलने वाला पुद्गल समूह जब यथायोग्य निमित्त या प्रतिबिम्बित होता है तब उसे छाया कहते हैं।

जम्बूद्वीप (पृ० १७) एक लाख योजन का भूखण्ड।

जल्प (पृ० ५)—जिस कथा-सन्दर्भ मे छल, जाति और निग्रह-स्थान का प्रयोग किया जाय।

जाति-धर्म (पृ० ३६,३७)—जातिगत आचार-विचार आदि।

जानपद-धर्म (पृ० ३६)—नागरिको का कर्त्तव्य आदि।

जिन (पृ० २)—तीर्थङ्कर।

ज्ञान-दान (पृ० ४१,४२,५३)—धर्मोपदेश देना, धर्म-कथा करना आदि।

तज्जीव तच्छरीरवाद (पृ० ७)—जीव और शरीर को एक मानने वाला अनात्मवादी दर्शन।

तत्त्व ज्ञान (पृ० ६)—बन्धन, बन्धन के हेतु; मोक्ष, मोक्ष के हेतु—इन चारों का ज्ञान।

तपस्या (पृ० २१,२२,२३,४७)—आत्म-शुद्धि के लिए की जाने वाली एक विशिष्ट साधना, जिसमे अन्न-पान आदि बाह्य पदार्थ तथा क्रोध-मान आदि आन्तरिक दोषो का त्याग किया जाता है।

तीर्थङ्कर (पृ० ४२)—तीर्थ की स्थापना करने वाले अरिहन्त।

तेजोलेश्या (पृ० २४,२५,२६)—तेजस् पुद्गलो के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय। शुभ-धर्म-प्रशस्त लेश्या।

त्रस पृ० ३६,७१)—चलने-फिरने वाले जीव।

त्रिकरण त्रियोग (पृ० ४२)—तीन करण—करना, कराना और अनुमोदन करना, तीन योग—मन, वचन और काया। साधु के त्याग तीन करण—तीन योग से होते हैं।

दर्शन (पृ० २,३,४,५,६,७,८,१८)—दृष्टि।

दर्शन-शास्त्र (पृ० ८,३६)—धर्म के द्वारा अभिमत तत्त्वो को तर्क की कसौटी पर कसने वाला तर्क-शास्त्र।

दर्शनावरणीय (पृ० २२)—वे कर्म-पुद्गल जो दृष्टि को आवृत करते हैं।

[illegible]शाला (पृ० ४८,५४,५५)—जहाँ दीन दुखियो को दान दिया जाता है।

दीक्षा (पृ० ५३,५८)—सांसारिक झंझटो से दूर, त्यागमय जीवन।

दुःखत्रयाभिघात (पृ० ४६)—दुःख तीन प्रकार के माने गए हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। इनका समूल नाश करना ही सांख्य-दृष्टि से मोक्ष है।

देशगुण (पृ० २३)—आंशिक गुण।

देशाचार (पृ० ३७)—देश की आचार परम्परा।

द्रव्य-अनुकम्पा (पृ० ५१)—मोह वश की जाने वाली अनुकम्पा—दया।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (पृ० २१)—वस्तु को जानने के विभिन्न दृष्टिकोण।

द्रव्य-दया (पृ० ४७)—प्राण रक्षा।

द्रव्य-लोक (पृ० १६)—छह द्रव्यात्मक लोक।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (पृ० ८)—वस्तुओं या सामाजिक सस्थाओं में जो पारस्परिक विरोध या द्वन्द्व होता है वही परिवर्तन का कारण बनता है। पहली अवस्था 'वाद' हैं उसकी विरोधी अवस्था 'प्रतिवाद' और इन दोनों के पारस्परिक द्वन्द्व से उत्पन्न होने वाली तीसरी अवस्था 'सवाद' है। यह इतिहास-विकास का क्रम है। इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं।

धर्म (पृ० १०,११,१२,१३,१४,१५,१६)—आत्म-शुद्धि का साधक तत्त्व।

धर्म-दान (पृ० ४८,५१)—जिस दान से अपना या पर का सयम प्रवृद्ध होता है।

धर्म-नीति (पृ० ५६)—धार्मिक पद्धति।

धर्मस्कन्ध (पृ० ५०)—धर्म का आधार।

धर्मोपग्रह दान (पृ० ४१, ४२)—धर्म को प्रोत्साहित करने वाला दान।

ध्रौव्य (पृ० ६)—द्रव्य का एक गुण।

नय (पृ० ३)—वस्तु के किसी एक अंश को जानने वाले और अन्य अंशो का खण्डन न करने वाले ज्ञाता का अभिप्राय।

निगमन (पृ० ३४)—हेतु, उदाहरण, उपनय, के उपरान्त सिद्ध की गई प्रतिज्ञा का पुनः कथन।

निर्जरा (पृ० १७,१८,२२,२६,४६,५०,६६)—कर्मों के क्षय से होने वाली आत्म-उज्ज्वलता।

निरवद्य (पृ० ५३)—पाप रहित।

निर्विकल्प समाधि (पृ० ६८)—अयोगावस्था ।

निश्चय-दृष्टि (पृ० १३,२०,२८)—वास्तविक दृष्टि ।

निश्रेयस (पृ० ४)—मोक्ष ।

निषेध-वाक्य (पृ० ५४)—जिस वाक्य मे कार्य का निपेध किया गया हो, वह ।

नील लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—नील पुद्गलो के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय । अशुभ-अधर्म-अप्रशस्त लेश्या ।

नीहारिका (पृ० १७)—कुहरे या धुएँ की तरह आकाश मे छाया रहने वाला-प्रकाश-पुञ्ज जो ग्रह-नक्षत्रो का उपादान माना जाता है ।

नैगम (पृ० ३)—सात नयो में पहला नय ।

पट्टावली (पृ० ५१)—गुरु-परम्परा का इतिहास ।

पद्म लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—पीत वर्ण वाले पुद्गलो के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय शुभ-धर्म-प्रशस्त लेश्या ।

पर-तीर्थिक (पृ० ५३)—जैनेतर मतावलंवी ।

परमाणु (पृ० १०,१४,१५,१८,२१)—अविभाज्य पुद्गल ।

परमार्थ (पृ० ४३)—आध्यात्मिक, मोक्ष की इच्छा ।

पर्याय (पृ० ६,१३,३२,३६)—पदार्थ का वह धर्म जो सहभावी न हो .

पान-पुण्य (पृ० ५१)—संयति मुनि को पान आदि देने से होने वाला पुण्य ।

पाप-धर्म (पृ० ३५)—दुराचार ।

पुद्गल (पृ० १०,१३,१४,१५,१८,२१,२४,३२,६३)—जिसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हो, वह ।

पुण्य दान (पृ० ५८)—पुण्य के लिए दिया जाने वाला दान ।

पुरुष (पृ० १०)—साख्याभिमत एक तत्त्व, जो समस्त क्रियाएँ करता है। परन्तु उनका फलोपभोग नहीं करता ।

पुरुषकार (पृ० १५)—पराक्रम ।

पूर्ण अक्रिया (पृ० ६८)—चतुर्दश गुण-स्थान की अवस्था ।

पूरण गलन (पृ० १४)—पुद्गल का लक्षण ।

पूर्ण संवर (पृ० ६८)—चतुर्दश गुण-स्थान मे मन, वचन और काय-योग के सम्पूर्ण निरोध से होने वाला संवर ।

पौद्गलिक (पृ० १४,१६,२०,२२,२३)—पुद्गल से बनी हुई वस्तु, भौतिक।

प्रकृति (पृ० ६८,६६,७२)—साख्याभिमत एक तत्त्व, जो पुरुष (तत्त्व) को जन्म-मरण के चक्र मे प्रेरित करता है।

प्रकृति (पृ० १६)—कर्मो का स्वभाव, बन्ध का एक भेद।

प्रतिक्रमण (पृ० ३४)—जैन मुनि की एक आवश्यक क्रिया जो कि रात्रि के प्रथम मुहूर्त्त और अन्तिम मुहूर्त्त मे की जाती है। इसके द्वारा आत्म-निरीक्षण और जान-अजान में हुए पाप-कर्मो का स्मरण और प्रायश्चित्त किया जाता है।

प्रदेश (पृ० १६)—वस्तु का निरंश अंश।

प्रदेशोदय (पृ० २३)—कर्म के उदय की वह अवस्था, जिसका विपाक न हो, अनुभूति मे आये वैसा परिणाम न हो।

प्रवचन (पृ० ५४)—जैनागम।

प्रागभाव (पृ० २०)—किसी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण मे जो उसका अभाव होता है, उसे प्रागभाव कहते है।

प्राण (पृ० ३६,४०)—जीवन-शक्ति।

प्रायश्चित्त (पृ० २२,३४)—अतिचार की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान।

प्रेय (पृ० ३५)—भौतिक समृद्धि।

बन्ध (पृ० १६,२१)—आत्म-प्रवृत्ति के द्वारा कर्म-पुद्गलो का स्वीकरण और आत्मा के साथ उनका एकीकरण।

भय-दान (पृ० ४८)—भय वश दिया जाने वाला दान।

भाव-अनुकम्पा (पृ० ५५)—आत्म-साधना के लिए मोह-रहित की जाने वाली अनुकम्पा।

भाव-अहिंसा (पृ० ४०)—जिसमे आत्मा कर्म-मुक्त हो, राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति, संवर।

भाव-हिंसा (पृ० ४०)—जिस प्रवृत्ति से कर्म-बन्ध हो, राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति।

भूत (पृ० ४०,४१,४२)—वृक्ष, लताएं आदि वनस्पति के जीव।

महाव्रत (पृ० ६६)—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पूर्ण पालन।

मूर्त्त-(मूर्त्तिक) (पृ० १४)—जिसमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हो। अमूर्त्त का प्रतिपक्षी।

मैथुन धर्म (पृ० ३५)—सम्भोग।

मोक्ष (पृ० ४,१७,१८,३३,३४,३६,६६,६८,६६)—कर्मों का सम्पूर्ण नाश, सिद्धालय, मुक्ति।

मोक्षार्थ दान (पृ० ५०)—मोक्ष की कामना से दिया जाने वाला दान।

मोहनीय (पृ० २२)—वे कर्म पुद्गल जो आत्म गुण—दर्शन और चारित्र का घात करते हैं।

योग ऋजुता (पृ० ३३)—मन, वचन और काया की सरलता।

लज्जा (पृ० ४०,५०)—सयम।

लवण समुद्र (पृ० १६)—जम्बूद्वीप को परिवेष्टित करने वाला समुद्र।

लोकायत मत (पृ० ७)—वह दर्शन जो जीव, निवृत्ति, स्वर्ग, नरक, धर्म आदि को नहीं मानता।

वाद (पृ० ५)—तत्त्व जिज्ञासा के लिए दो या उससे अधिक व्यक्तियो के बीच मे जो कथा अर्थात् पक्ष और विपक्ष के रूप मे विचार-विनिमय हो।

वासना (पृ० १८,१६)—बौद्ध-सम्मत एक तत्त्व जो जैन-सम्मत 'कर्म' के निकट है।

वितण्डा (पृ० ५)—जिस 'जल्प' मे किसी भी पक्ष का स्थापन न किया जाय।

विपाकोदय (पृ० २३)—जिस उदय मे फल का अनुभव होता हैं।

विराधक (पृ० ४)—जो व्यक्ति अपने दुष्कृत्यो का प्रायश्चित्त नहीं करता और उससे पहले ही मर जाता है।

विस्तार-रुचि (पृ० ३)—जो व्यक्ति द्रव्यो के सभी भावो को सर्व प्रमाणो और सर्व नयो से जानता है, वह।

वीर्य (पृ० १५,२३)—शक्ति।

व्यावहारिक काल (पृ० १४)—सूर्य, चन्द्र कृत कालमान जिसके समय आवलिका, घंटा, वर्ष आदि विभाग हैं।

व्याप्ति (पृ० ३)—नित्य साहचर्य।

शुक्ल (पृ० २५)—योग-दर्शन मे वर्णित कर्म की एक जाति। तपस्या, स्वाध्याय तथा ध्यान मे निरत लोगो के कर्म।

शुक्ल कृष्ण (पृ० २५)—योग-दर्शन मे वर्णित कर्म की एक जाति। बाह्य साधनो से उत्पन्न साधारण लोगो के कर्म।

शुक्ल लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—सफेद वर्ण वाले पुद्‌गलो के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय। शुभ-धर्म-प्रशस्त लेश्या।

शुभ आयुष्य (पृ० ३१)—सुख-पूर्ण आयु, दीर्घ आयु।

शुभ कर्म (पृ० ३३,३४)—जिस कर्म के द्वारा पुण्य का वन्ध हो।

शुभ नाम कर्म (पृ० ३१)—जो नाम कर्म शुभ फलदायी हो।

शुभ योग (पृ० ३३,३४)—मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति।

शुभोपयोग (पृ० ३३)—आत्मा का शुभ व्यापार।

श्रमण परम्परा (पृ० २६,२७,२८)—जैन और वौद्ध परम्परा।

श्रेयस् (पृ० ३,४,५)—आध्यात्मिक।

श्रौत (पृ० ३) श्रुति—वेद मे प्रतिपादित।

सत्ययुग (पृ० ४१)—युग का एक विभाग।

सहभावी गुण (पृ० ६)—सदा वस्तु के साथ रहने वाला गुण।

समय (पृ० १५)—काल का अत्यन्त सूक्ष्म विभाग।

समय क्षेत्र (पृ० १६)—जहाँ व्यावहारिक काल की स्थिति हो, मनुष्य क्षेत्र का अपर नाम।

समवायी कारण (पृ० २०)—वह कारण जो पृथक् न किया जा सके, उपादान कारण।

सम्यक्त्व (पृ० २३)—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा।

सराग संयम (पृ० ३३)—रागयुक्त सयम।

सर्वघाती (पृ० २३)—कर्म का एक भेद, जो समस्त गुणो की घात करे।

सर्वज्ञ (पृ० ६)—त्रिकालदर्शी।

सहकारी (पृ० २१,२५)—सहायक।

सहभावी पर्याय (पृ० ३६)—सहचर पर्याय।

सक्षेप रूचि (पृ० ३)—जो व्यक्ति असत् मत या वाद मे फंसा नही है और जो वीतराग के प्रवचन मे विशारद भी नहीं है किन्तु जिसकी श्रद्धा शुद्ध है, वह।

परिशिष्ट : ३ :

शब्दानुक्रमणिका